101HN21

by Cde Anu

Submission date: 18-Jul-2025 11:52PM (UTC+0530)
Submission ID: 2716910736
File name: 101HN21.pdf (1.44M)
Word count: 73811
Character count: 299734

HISTORY OF HINDI LITERATURE

M.A. Hindi, Semester-I, Paper-I

Complied by

DR. M. MANJULA

M.A., M.Phil. Ph.D.,

Lecturer in Hindi

Ramakrishna Hindu High School

Amaravathi, Guntur

Director

Dr.Nagaraju Battu

M.H.R.M., M.B.A., L.L.M., M.A. (Psy), M.A., (Soc), M.Ed., M.Phil., Ph.D.

Centre for Distance Education

Acharya Nagarjuna University

Nagarjuna Nagar-522510

Phone No.0863-2346208, 0863-2346222, Cell No.9848477441

0863-2346259 (Study Material)

Website: www.anucde.info

e-mail: anucdedirector@gmail.com

M.A. (Hindi): History of Hindi Literature

First Edition: 2021

Reprint : 2022

No. of Copies

© Acharya Nagarjuna University

This book is exclusively prepared for the use of students of M.A. (Hindi) Centre for Distance Education, Acharya Nagarjuna University and this book is mean for limited circulation only

Published by

Dr.Nagaraju Battu

Director

Centre for Distance Education

Acharya Nagarjuna University

Nagarjuna Nagar-522510

Printed at

FOREWORD

Since its establishment in 1976, Acharya Nagarjuna University has been forging ahead in the path of progress and dynamism, offering a variety of courses and research contributions. I am extremely happy that by gaining 'A' grade from the NAAC in the year 2016, Acharya Nagarjuna University is offering educational opportunities at the UG, PG levels apart from research degrees to students from over 443 affiliated colleges spread over the two districts of Guntur and Prakasam.

The University has also started the Centre for Distance Education in 2003-04 with the aim of taking higher education to the door step of all the sectors of the society. The centre will be a great help to those who cannot join in colleges, those who cannot afford the exorbitant fees as regular students, and even to housewives desirous of pursuing higher studies. Acharya Nagarjuna University has started offering B.A., and B.Com courses at the Degree level and M.A., M.Com., M.Sc., M.B.A., and L.L.M., courses at the PG level from the academic year 2003-2004 onwards.

To facilitate easier understanding by students studying through the distance mode, these self-instruction materials have been prepared by eminent and experienced teachers. The lessons have been drafted with great care and expertise in the stipulated time by these teachers. Constructive ideas and scholarly suggestions are welcome from students and teachers involved respectively. Such ideas will be incorporated for the greater efficacy of this distance mode of education. For clarification of doubts and feedback, weekly classes and contact classes will be arranged at the UG and PG levels respectively.

It is my aim that students getting higher education through the Centre for Distance Education should improve their qualification, have better employment opportunities and in turn be part of country's progress. It is my fond desire that in the years to come, the Centre for Distance Education will go from strength to strength in the form of new courses and by catering to larger number of people. My congratulations to all the Directors, Academic Coordinators, Editors and Lesson- writers of the Centre who have helped in these endeavours.

Prof. P. Raja Sekhar
Vice-Chancellor
Acharya Nagarjuna University

SEMESTER - 1

PAPER - 1 : HISTORY OF HINDI LITERATURE

101HN21 -हिन्दी साहित्य का इतिहास

<u>पाठ्य पुस्तकें</u> :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - संपादक, डॉ, नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, नई दिल्ली - 110 002 ।

<u>पाठ्यांश</u>

1. साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य का इतिहास । इतिहास और साहित्येतिहास, साहित्येतिहास का समाज, धर्म, दर्शन और संस्कृति से संबंध, साहित्येतिहास-दर्शन, साहित्य के इतिहास के विविध दृष्टिकोण, साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न अध्यायों के दृष्टिकोण, हिन्दी साहित्य का इतिहास, आधारभूत सामग्री, काल विभाजन और नामकरण, हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास ।

2. आदिकाल : आदिकाल का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक संदर्भ और साहित्य के साथ संबंध, साहित्यिक चेतना, प्रवृत्तियाँ और काव्य-धाराएँ, प्रतिनिधि रचनाएँ और रचनाकार, कलात्मक अभिव्यंजना, काव्य-रूप और भाषा-शैली ।

3. भक्तिकाल : भक्तिकाल का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक संदर्भ और भक्ति आन्दोलन, भक्ति संप्रदाय और भक्ति साहित्य, भक्तिकालीन साहित्यिक चेतना, प्रवृत्तियाँ और काव्यधाराएँ, प्रतिनिधि रचनाएँ और रचनाकार, कलात्मक अभिव्यंजना, काव्य-रूप और भाषा-शैली, भक्तिकाल की भक्तेतर रंचनाएँ ।

4. रीतिकाल - रीतिकालीन काव्य के विभिन्न प्रेरणास्रोत-काव्य शास्त्र, कामशास्त्र, काम ललित कलाएँ, रीतिकाव्य : आचार्यत्व एवं रचना धर्मिता, रीतिकाल का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संदर्भ और साहित्य के साथ संबंध, रीतिकाल की साहित्यिक चेतना, प्रवृत्तियाँ और काव्य धाराएँ, श्रृंगार और श्रृंगारेतर वीर, भक्ति, नीति और कलात्मक अभिव्यंजना, काव्य-रूप और भाषा-शैली, रीति काव्य का नैतिक स्वर ।

<u>सहायक ग्रंथ</u> :

1. हिन्दी साहित्य - उद्भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, 8 - नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली - 110 012 ।
2. हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग - 1) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वारणासी ।
3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद ।
4. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी - नन्ददुलारे वाजपेयी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
5. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास - राजनाथ शर्मा - विनोद पुस्तक मंदिर, रांगेयराघव, अव आगरा - 2 ।

Dr. K. SRIKRISHNA, M.A.,Ph.D
Asst. Co-ordinator
DEPARTMENT OF HINDI
ACHARYA NAGARJUNA UNIVERSITY
NAGARJUNA NAGAR - 522 510

अनुक्रमणिका

क्र.सं.		पृष्ठ संख्या
1.	साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य का इतिहास	1
2.	हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा : आधारभूत सामग्री	3
3.	हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन और नामकरण	9
4.	आदिकालीन साहित्य का सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक पृठभूमि	12
5.	आदकाल का नामकरण: विदि मत	23
6.	आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ	24
7.	आदिकाल के प्रमुख कवि और उनके रासो काव्य	40
8.	आदिकाल के रासों काव्यों की विशेषताएँ तथा आदिकाल के अन्य कवि	45
9.	भक्ति आन्दोलन का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूम	50
10.	भक्ति संप्रदाय और भक्ति साहित्य	55
11.	निर्गुण संतकवि और उनका काव्य	60
12.	सूफी मत, प्रमुख कवि और उनका काव्य	70
13.	कृष्ण भक्ति, अष्टछाप के कवि और उनके काव्य	81
14.	रामभक्ति शाखा - प्रमुख कवि और उनका काव्य	101
15.	रीतिकाल का साहित्य - काव्य शास्त्र दरबारी संस्कृति और लक्षण ग्रन्थों की परम्परा	114
16.	रीतिकालीन साहित्य की सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	120
17.	रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ - रीतिबद्ध, रीतिमुक्त, रीतिसिद्ध काव्य धाराएँ तथा अन्य प्रवृत्तियाँ	128

1. साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य का इतिहास

साहित्य और इतिहास वाङ्मय के दो महत्वपूर्ण अंग हैं। साहित्य का संबंध ललित कलाओं से है तो इतिहास का संबंध शास्त्र से है। साहित्य सृजनात्मक कला है तो इतिहास तथ्याश्रित लेखन है। साहित्य कलात्मक अभिव्यक्ति है। वह सत्य को अपने साथ लेकर चलता है। इतिहास पूर्णतया सत्य पर ही आधारित होता है। साहित्य कल्पनाश्रित हो सकता है। परन्तु इतिहास नहीं है। साहित्य सत्याधारित होने पर भी उस में कल्पना की मात्रा जुडी रहती है। इतिहास में कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं होता है। इतिहास और आहित्य दोनों मानव जीवनाधारित है। इतिहास मानव की सफलता और विफलता की कहानी है तो साहित्य मानवता के मानवीय मूल्यों का उद्घाता है। इतिहास मानव की सफलता और विफलता को मात्र उद्घाटित करता है। कोई व्याख्या नहीं करता है। बल्कि साहित्य जीवन के अनुकूल उस की व्याख्या करता है।

साहित्य जीवन की आलोचना करता है। इतिहास जीवन को यथातथ्य प्रस्तुत करता है। इस रूप में ये दोनों भिन्न विषय हैं। दोनों के बीच अटूट संबंध भी है। ये दोनों परस्पर प्रभावित होते हैं। एक दूसरे के अस्तित्व के लिए बलवती भूमिका निभाते है। इतिहास साहित्य के लिए आधार बनता है, तो साहित्य भी इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री जुटाता है। इतिहास वाङ्मय के सभी विषयों का होता जैसे राजनीति अर्थशास्त्र, आध्यात्म आदि का। साहित्य सिर्फ मानव तथा मानव जीवन का होता है। इसके अतिरिक्त इतिहास साहित्य का भी होता है। उस की रूप में साहित्य इतिहास को वस्तु के रूप में ग्रहण कर सकता है। साहित्य का इतिहास इतिहास के अन्य प्रकारों से अलग होने पर भी वह भी इतिहास ही होता है। परन्तु वह इतिहास के अन्य रूपों से कुछ अलग होता है। साहित्य के अद्येता के लिए साहित्य की इतिहास की जानकारी अत्यंत आवश्यक होती है। साहित्य के मूल्यांकन व रसास्वादन के क्षेत्र में साहित्य का इतिहास बलवती भूमिका निभाता है। साहित्य में अभिव्यक्त जीवन और साहित्यिक शिल्प दोनों को समझने के लिए भी साहित्य की इतिहास की आवश्यकता है।

साधारणतया इतिहास घटनाश्रित होता है। घटनाओं को एक क्रमिक रूप में प्रस्तुत करना इतिहास का लक्ष्य होता है। इस के लिए इतिहासकार को किसी नए शिल्प को अपनाने की आवश्यकता नहीं है। साहित्य का इतिहास उसी रूप में लिखा जाता है। बहुधा इस में साहित्य के ऐतिहासिक क्रम को महत्व दिया जाता है। काल गमन में सृजित साहित्य का भाव के संदर्भ को ही उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। अत: साहित्य के इतिहास में साहित्य का सही मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है। काल

प्रवाह से बढ कर या कट कर साहित्य का सही मूल्यांकन करना कभी संभव नहीं होता है। काल के साथ परिस्थितियों का आकलन करके साहित्येतिहास में साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। इसलिए साहित्येतिहास में प्रस्तुत मूल्यांकन में युग का अध्ययन अपने आप सा हो जाता है।

साहित्येतिहास का लक्ष्य सिर्फ काल प्रवाह में विकसित किसी कवि या लेखक और उनकी रचनाओं का आकलन करने मात्र से नहीं होता है। साहित्य के इतिहास में कवियों एवं उनकी रचनाओं के संबंध सूत्र को प्रस्तुत करने का भी होता है। यह संबंध मूल विविध पद्धतियों से बिठाया जाता है। बल्कि वैयक्तिकता के स्तर पर भिन्न-भिन्न रूपों को अपनाकर संबंध सूत्र प्रस्तुत किया जाता है। इसी को साहित्येतिहास दर्शन माना जाता है। अपने-अपने विचारों के अनुकूल आदि के इतिहासकार साहित्येतिहास रचता है, जैसे वैज्ञानिक दृष्टि को अपनानेवाला, वैज्ञानिक साहित्येतिहास प्रस्तुत करता है। मार्क्सवादी चिंतन को महत्व देने वाल मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्येतिहास रचता है। आज साहित्येतिहास लेखन में अनेक पद्धतियों का विकास भी हुआ है। वे ही साहित्येतिहास के क्षेत्र में इतिहास-दर्शन के रूप में लोकप्रिय हुए हैं। यह दर्शन साहित्येतिहास लेखन को प्रभावित करता है। उसे दिशा-निर्देश करता है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में ऐसे प्रचार किए गए हैं। किसी ने साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया है तो किसी ने वैज्ञानिक दृष्टि कोण को तथा किसी ने आलोचना का आधार बनाया है। इन्होंने अपने दर्शन के आधार पर साहित्येतिहास लेखन प्रस्तुत किया है। इस रूप में इन के प्रयास एक ही साहित्य से संबंध रखते हुए भी अलग-अलग ही विकसित हुए पाए जाते है।

2. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपराः आधारभूत सामग्री

इतिहास लेखन के क्षेत्र में समय को आधार बनाकर प्रागैतिहासिक काल और ऐतिहासिक काल नाम से दो युगों का उल्लेख किया जाता है। प्रागैतिहासिक काल वह कहा जाता है जब इतिहास के लिए आवश्यक किसी भी सत्य का पता नहीं चलता है। सिर्फ उसके बारे में आकांक्षा लगाया जाता है। उस के बाद इतिहास का वह काल शुरू हो जाता है जब किसी न किसी प्रकार के प्रमाण व आधारभूत सामग्री प्राप्त होती है। आधारभूत सामग्री वह सामग्री है इस के द्वारा तथा जिस की सहायता से इतिहास लेखन किया जा सकता है। आधारभूत सामग्री की वजह से साहित्येतिहास विश्वसनीय बन जाता है। आधारभूत सामग्री कई प्रकार की हो सकती है, बल्कि इसके माध्यम से अप्राप्त साहित्य का पता चलता है वह आधारभूत सामग्री माना जाता है। इस के प्राप्त होने के स्थल एवं संदर्भ के अनुसार दो प्रकार बन जाते हैं। 1.अंत: साक्ष्य 2. बाह्य साक्ष्य। साहित्येतिहास लेखन में इन दोनों का महत्व होने पर भी इन में अंत:, बाह्य कुछ अधिक विश्वसनीय माना जाता है।

1. अंतः साक्ष्य :-

यह ऐसी आधारभूत सामग्री है जो साहित्य के अंदर ही प्राप्त होती है। यानी कवि और उनकी रचनाओं से संबंधित जानकारी स्वयं रचनाओं के अंदर से ही प्राप्त होती है। बहुधा ऐसी सामग्री आत्म कथ्य ही होती है। कवि की जन्म-मृत्यु संबंधी जानकारी, रचनाओं का रचनाकाल, रचनाओं से संबंधित वाद-विवाद और अन्य कवियों से संबंधित जानकारी आदि इस के अंतर्गत आती है। एक कवि से संबंधित जानकारी उस कवि की रचनाओं से भी प्राप्त हो सकती है। वह भी अंत: साक्ष्य के अंतर्गत ही आती है। किसी में ऐसी सामग्री कभी-कभी उपलब्ध होती है। खासकर प्राचीन कवियों से संबंधित जानकारी कुछ प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त होती है। गोकुलनाथ का 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' नाभादास जी के 'भक्त-माल', 'गुरु ग्रंथसाहब', 'गोसाई चरित्र', ध्रुवदास जी के 'भक्त नामावली' तथा 'संत बानी' आदि इसी प्रकार के ग्रंथ हैं। इन से प्राचीन कवियों से संबंधित अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। 'चौरासी और सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में खासकर अष्टछाप के वैष्णव कवियों का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है, जो अन्यत दुर्लभ है। 'भक्त माल' में अनेक भक्त कवियों से संबंधित 108 छप्पय छंद प्राप्त होते हैं। 'गुरुग्रंथ साहब' कबीर, रैदास तथा नाभादास की

वाणियों का संग्रह है। इसी प्रकार 'गोसाई चरित' में महाकवि तुलसीदास के जीवन-चरित्र का उल्लेख मिलता है। इस रूप में सभी ग्रंथ उन प्राचीन कवियों के बारे में जानकारी देनेवाली प्रामाणिक सामग्री के रूप में सामने आते हैं।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त ऐसे संग्रह भी हिन्दी में प्राप्त होते है जिन में एक या अनेक कवियों की रचनाएं प्राप्त होती हैं। ऐसे संग्रहों में 1. कविमाल 2. कालिदास हजारा 3. काव्य-निर्णय-(भिखारी दास) 4. सत्कविगिरा विलास 5. कविनामावली 6.विद्वान मोर तरंगिणी 7.श्रृंगार संग्रह-(सरदार कवि) 8.सुंदरी तिलक-(हरिश्चंद) 9.कवित्त-रत्नाकर-(मातादीन मिश्र) 10. शिवसिंह सरोज-(शिव सिंह सेंगर) 11. कवि-रत्नमाला 12.हजीजुल्ला एवं हजारा 13.सलेक्शन फ्राम हिन्दी लिटरेचर-(लाला सीता राम) 14. सूक्ति सरोवर-लाला भगवानदीन 15.रिखिजय यूरबन 16. रसचंदोदय-ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी आदि उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं से बडी संख्या में कवियों एवं उनकी रचनाओं से संबंधित जानकारी प्राप्त होती है।

2. बाह्य साक्ष्य :-

साहित्य से अलग लिखित सामग्री तथा अलिखित यानी जनश्रुतियाँ आदि बाह्य साक्ष्य के अंतर्गत आती है। साहित्य से अलग लिखित ग्रंथों में इतिहास, संस्कृति तथा विविध शास्त्रों से संबंधित ग्रंथ आते हैं। ऐसे ग्रंथों में टाड का राजास्थान, नागरी प्रचारिणी सभा की खोद रिपोर्ट, मोतीलाल मेनारिपा का 'हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज', बिहार में प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथ, 'कबीर एवं कबीर पंथ', हिस्ट्री आफशिख रिलीजन, दि रिलीजियस हिस्टरी ऑफ इंडिया , गोरखनाथ एवं दि कनफटा योग आदि उल्लेखनीय हैं। इन में हिन्दी के प्राचीन कवियों और इन कृत्यों से संबंधित जानकारी प्राप्त होती है। टाड के 'राजास्थान' में हिन्दी के चारण कवियों का उल्लेख है। मोतीलाल के ग्रन्थ में राजस्थान के अनेक चारण कवियों से संबंधित बहुमूल्य सूचनाएं प्राप्त होती हैं। उपर्युक्त अंग्रेजी पुस्तकों से हिन्दी के कवियों के अनेक विचारों पर प्रकाश पड़ता है। खासकर उन के धार्मिक सांस्कृतिक विचारों का समर्थन प्राप्त होता है।

इन के अतिरिक्त जगह-जगह पर प्राप्त प्राचीन शिलालेख और उन में अंकित विवरण भी बाह्य साक्ष्य के अंतर्गत दी आता है। शिलालेख प्राचीन काल के प्रामाणिक आधार है। इन में प्राचीन कवियों का तथा उनकी कृतियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। चंदेल राजा परमाल के समय के जैन शिलालेख, आबूपर्वत के पास प्राप्त जेत और शलक के शिला लेख इस के अच्छे उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त जन-जन में प्रचलित जनश्रुतियाँ भी बाह्य साक्ष्य के अंतर्गत आती है।

साहित्येतिहास लेखन के लिए आवश्यक इस आधारभूत सामग्री के अवलोकन के बाद एक बात स्पष्ट होती है। यह सामग्री इतिहास लेखन में काफी मरदगार भान्ति होती है। इस में दो मत नहीं है। परन्तु इसी के बल पर समग्र साहित्येतिहास लेखन करना संभव नहीं है। इस के अतिरिक्त भी साहित्येतिहास लेखन के लिए विविध सामग्री की जरूरत होती है। हिन्दी के साहित्येतिहासकारों ने भी ऐसे स्तुत्य पयास किए हैं। हिन्दी में कई ऐसे प्रामाणिक साहित्येतिहास ग्रंथ रचे गए हैं। अभी इस शिक्षा में प्रचार व अनुसंधान जारी है।

हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन की परंपरा :-

कुछ प्राचीन ग्रंथों की प्राप्ति के अलावा साहित्येतिहास लेखन और उसके दर्शन की दृष्टि में हिन्दी में साहित्येतिहास लेखन का आरंभ 19 वीं सदी में ही आरंभ हुआ है। वैष्णववनवार्ता जैसी प्राचीन कृतियों को अलग करने से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का पहला प्रयास हिन्दी में न होकर एक विदेशी भाषा फ्रांसीसी में हुआ दिखाई पड़ता है। सर्व प्रथम फ्रेंच विद्वान गार्सा द तासी ने फ्रेंच भाषा में इस्तवार दरेला लितेशत्युर एंदुई एंदुस्तानी शीर्षक से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा है। इन्होंने इस में हिन्दी तथा उर्दू के कतिपय कवियों का परिचय दिया है। आरंभ में 24 पृष्ठों की भूमिका में हिन्दी भाषा के विकास पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। इन्होंने उर्दू को भी हिन्दी में शामिल कर लिया है। बल्कि उर्दू कवियों का ही अधिक उल्लेख किया है। इस के साथ-साथ हिन्दी के मुख्य कवियों की जीवनियाँ एवं रचनाओं पर प्रकाश डाला है। एक विदेशी विद्वान के द्वारा हिन्दी साहित्येतिहास का यह पहला प्रयास प्रशंसनीय है।

शिवसिंह सेंगर ही भारत का प्रथम हिन्दी साहित्येतिहासकार हैं। उन्होंने अपने 'शिवसिंह सरोज' में लगभग एक हजार हिन्दी के कवियों का परिचय प्रस्तुत किया है। कवियों की कविताओं को भी उन्होंने उदाहरण के रूप में दिया है। सेंगर जी का यह प्रयास आगे के इतिहासकारों के लिए मार्गदर्शन बना है। सन् 1822 में जार्ज ग्रियर्सन ने अपना ग्रंथ 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दोस्तान' लिखा है। इन्होंने सेंगर जी का अनुकरण किया है। पहली बार इन्होंने हिन्दी साहित्येतिहास के काल विभाजन पर मौलिक विचार प्रकट किए हैं। काल विभाजन के साथ इन्होंने साहित्येतिहास प्रवृत्तियों का विश्लेषण भी किया है। इस रूप में इन का प्रयास व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक माना जा सकता है। इनके द्वारा व्यक्त विचार व मान्यताएँ भाग अधिक स्वीकृत हुई है। इन के बारे में डॉ.शिवकुमार शर्मा ने उचित ही लिखा है - ''उन्होंने हिन्दी भाषा की परिधि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा उर्दू भाषाओं

को बाहर रखा। उन्होंने तॉसी और शिवसिंह सरोज के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाई चरित्र, हजारा, नामधारी ग्रंथों तथा अन्य काव्य ग्रंथों की सामग्री का उपयोग करते हुए यथा स्थान मूल आधारों के संदर्भों का भी संकेत कर दिया है।''

हिन्दी साहित्येतिहास परंपरा में पं.महेशदत्त शुक्ल के 'हिन्दी काव्य संग्रह' तथा रामनरेशत्रिपाठी के 'कविता कौमुदी' ग्रंथों का भी महत्त्व है। महेशदत्त का ग्रंथ सन् 1873 में प्रकाशित हुआ है। इस में कुछ प्राचीन कवियों की जीवनियों और रचनाएँ उल्लिखित हैं। त्रिपाठी का 'कविता कौमुदी' ग्रंथ 1910 में प्रकाशित हुआ है। त्रिपाठी जी का प्रथम भाग में भारतेन्दु पूर्व 89 कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय दिया है। दूसरे भाग में आधुनिक काल के 49 कवियों और उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया है।

'मिश्रबन्धु विनोद' हिन्दी साहित्येतिहास ग्रंथों की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। मिश्रबन्धुवों ने इसे चार भागों में रचा है। इस में 5,000 से भी अधिक कवि-लेखकों का परिचय है। इस में साहित्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालकर साहित्यकारों का साहित्यक मूल्यांकन कर दिया गया है तथा उनकी श्रेणियाँ बना दी गई हैं। इन्होंने काव्य समीक्षा करते समय परंपरागत सिद्धांतों का अनुकरण किया है। जो बाद में भी स्वीकार्य हुए हैं। आगे इतिहास लिखनेवाले रामचंद्रशुक्ल जी ने भी कवियों का परिचयात्मक विवरण इन्हीं से लिए है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी के द्वारा रचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' हिन्दी के साहित्येतिहास ग्रंथों में अग्रणी है। यह मूलतः नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था। आगे इसे शोधित कर के इतिहास ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद इतिहास काल विभाजन नामकरण, विवेचन की दृष्टि से अत्यंत, लोकप्रिय हुआ है। आगे के इतिहासकारों के लिए पथप्रदर्शक बना है। शुक्ल जी ने साहित्य को जनता का चित्तवृत्तियों का प्रतिबिंब स्वीकार कर उस की उत्तरोत्तर विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को तद्युगीन व्यापक परिस्थितियों-राजनितिक,धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदि के व्यापक संदर्भ को देखकर विकासवादी दृष्टिकोण को अपनाया। उन्होंने कवियों की संख्या की अपेक्षा साहित्यिक मूल्यांकन को महत्व दिया। कवियों के काव्य-निरूपण में आधुनिक आलोचनात्मक दृष्टि अपनायी। काल विभाजन, काल सीमा निर्धारण, काव्य-धाराओं का वर्गीकरण काव्यधाराओं के मूल स्रोतों के संकेतीकरण आदि में मौलिक विचार प्रकट किए है। वे इतने सटीक हुए कि आगे के अधिकांश इतिहासकारों ने इन्हीं को अपनाया है। अपने वैयक्तिक प्रयासों से शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्येतिहास को कार्य सामग्री जुटाया। यह सामग्री शुक्लजी के बाद इतहिास लेखन करनेवालों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई। इन्होंने हिन्दी साहित्य के

इतिहास को चार काल-खंडों में - वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल में विभक्त कर उनके आदर के नाम भी प्रस्तुत किए। सरलता, स्पष्टता एवं वैज्ञानिकता की वजह शुक्लजी का यह काल विभाजन तथा नामकरण परवर्ती काल में भी मान्य रहा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने तीन ऐतिहासिक ग्रंथ लिखकर हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास तथा हिन्दी साहित्य का आदिकाल उनके ये तीनों ग्रंथ नवीनदृष्टि तथा नूतन सामग्री के लिए लोकप्रिय है। इन में द्विवेदीजी ने देश की प्राचीन परंपराओं, संस्कृत के धारावाहक रूप, शास्त्रीय एवं लोक परंपराओं के व्यापक संदर्भ में प्रत्येक युग के साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत किया। उन्होंने अप्रमाण स्थापित किया कि हिन्दी साहित्य में भक्ति का आंदोलन न तो निराशाजन्म परिस्थितियों का परिणाम है और नहीं यह इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया की उपज है बल्कि भारत के दर्शन, धर्म व साधना का क्रमात्मक प्रस्फुटन है। इसी अंदाज से उन्होंने संपूर्ण भक्ति साहित्य का मूल्यांकन किया है। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' के द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल को एक नया रूप दिया है।

डॉ.रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखकर साहित्येतिहास के क्षेत्र में एक नयी परंपरा का सूत्रपात किया। इस में उन्होंने 1693 से 1693 ई. की कालावधि को लेकर भक्तिकाल तक के इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। डॉ.वर्मा ने अधिकांश शुक्लजी के मार्ग का अनुकरण किया है। इन्होंने काल विभाजन तथा नामकरण में थोडा परिवर्तन किया है। वीरगाथाकाल को चारणकाल कहा। काव्य धाराओं के नामकरण में लेखक ने 'संतकाव्य' व 'प्रेम काव्य' आदि शीर्षकों का सार्थक प्रयोग किया है। डॉ.धीरेंद्र वर्मा द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य' ग्रंथ का भी अपना महत्त्व है। इस में साहित्य के इतिहास को तीन कालखंडों में यथा-आदिकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल में विभक्त किया गया है। समस्त काव्य में परंपराओं का वर्णन स्वतंत्र रूप से किया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा-काशी ने साहित्येतिहास लिखवाने की बृहद योजना बनायी है। उस ने 18 भागों में 'हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास' लिखवाया है। इस में इतिहास के प्रत्येक भाग विभिन्न अधिकारी विद्वानों के संपादन में लिखा गया है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा में डॉ.गणपतिचंद्र गुप्त का योगदान भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने 1965 में हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास ग्रंथ रचा है। यह ग्रंथ तथ्यघटित है। इन्होंने किसी एक युग की एक प्रवृत्ति को आधार बनाकर नामकरण करना अवैज्ञानिक माना है। इनकी दृष्टि में नामकरण युग की समस्त प्रवृत्तियों को दर्शानेवाला होना चाहिए। उसी दृष्टि से उन्होंने अपने ग्रंथ में काल विभाजन एवं नामकरण प्रस्तुत किया है।

डॉ.नगेन्द्र के संपादन में ‘ हिन्दी साहित्य का इतिहास’ तथा ‘हिन्दी वाङ्मय बीसवी शती’ शीर्षक से दो महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इस में अनेक अधिकारी विद्वानों ने इतिहास के विभिन्न आयामों पर व्यापक प्रकाश डाला है। इन के प्रयासों के द्वारा अनेक इतिहास संबंधी अज्ञात विषय भी आए। साहित्येतिहास के इन प्रयासों के अतिरिक्त हिन्दी सहित्य के विभिन्न काल खंडों, काव्य रूपों और धाराओं पर अनेक शोधकार्य हुए तथा शोध प्रबंध रचे गए हैं। इन शोध कार्यों का निष्कर्षों से हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के लिए बडा प्रयोजन हुआ है। इन के अतिरिक्त-हिन्दी साहित्येतिहास परंपरा में डॉ.बच्चन सिंह का ‘आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास’ प्रो.राम स्वरूप चतुर्वेदी का ‘हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास’ भी उल्लेखनीय प्रयास हैं।

3. हिन्दी साहित्य का काल - विभाजन और नामकरण

काल सतत प्रवाहमान धारा है। साहित्य भी काल के साथ बहनेवाली धारा है। इस के साथ ही साहित्य जीवनहित होता है। काल प्रवाह में जीवन बदलता है तो उसके अनुपात में तथा उसके अनुरूप साहित्य भी बदलता है। समय के साथ बदलने वाले साहित्य के अध्ययन तथा उसका इतिहास प्रस्तुत करने के लिए उस का वर्गीकरण कवि विभाजन करना आवश्यक है। यह साहित्यक परिवर्तन व काल प्रवाह के साथ हुए परिवर्तन के आधार पर करना अधिक उचित होता है। हिन्दी के साहित्येतिहासकारों ने विभाजन के विभिन्न आधारों का सुनिश्चित करके विभाजन कृति,कर्ता, पद्धति और विषय की दृष्टि से कर लिया है। कभी किसी अत्यंत प्रभावी लेखक के आधार पर भी काल विभाजन किया जाता है । जैसे द्विवेदी युग व प्रेमचंद युग। कभी-कभी साहित्य की प्रवृत्ति के आधार पर जैसे वीरगाथा काल, छायावादी युग आदि के रूप में किया जाता है । इन से अलग साहित्य के मानव जीवन के संबंध जोड़ते हुए जीवन के साथ बदलने वाली साहित्यिक दृष्टिकोण के रूप में उभर कर आया है। हिन्दी साहित्य के संदर्भ में अबतक हुए कुछ प्रमुख कालविभाजन व नामकरण निम्नांकित हैं।

1. गार्साद तासी का काल विभाजन व नामकरण :-

(क) चारण काल (700-1300 ई) (ख)पन्द्रहवी शती का धार्मिक पुनर्जागरण (ग) जायसी की प्रेम कविता । (घ) ब्रज का कृष्ण संप्रदाय (च) मुगल दरबार (छ) तुलसीदास (ज) रीति काव्य (झ) तुलसीदास के परवर्तीकवि (त) 18वां शताब्दी (थ) कंपनी के शासन में हिन्दुस्तान (द) विक्टोरिया के शासन काल में हिन्दुस्तान । इन से स्पष्ट होता है कि यह काल विभाजन होने की जगह अध्यायों का विभाजन लगता है।

2. मिश्रबन्धुओं के मिश्रबंधुविनोद में काल विभाजन :-

1. आरंभिक काल (क) पूर्वारंभिक काल (700-1343 वि)
   (ख) उत्तरारंभिक काल (1344-1444 वि)

2. माध्यमिक काल (क) पूर्वमाध्यमिक काल (1445-1560 वि)
   (ख) प्रौढ माध्यमिक काल (1561-1680 वि)
3. अलंकृत काल (क) पूर्वालंकृत काल (1681-1790 वि)
   (ख) उत्तरालंकृत काल (1791-1889वि)
4. परिवर्तन काल (1890-1925 वि)
5. वर्तमान काल (1926 से अद्यावधि तक)

यह वर्गीकरण और नामकरण ग्रियर्सन की तुलना में बेहतर माना जा सकता है।

3. आचार्य रामचंद्रशुक्लजी का काल विभाजन और नामकरण :-

1. आदिकाल (वीरगाथा काल - सं.1050-1375)
2. पूर्व मध्यकाल (भक्ति काल - सं.1375-1700)
3. उत्तर मध्य काल (रीतिकाल - सं.1700-1900)
4. आधुनिक काल (गद्यकाल 1900 से अबतक)

शुक्लजी ने प्रवृत्ति मूलक काल विभाजन तथा नामकरण प्रस्तुत किया है। जो तक वैज्ञानिक एवं माननेयोग्य है। शुक्लजी का यह वर्गीकरण और नामकरण ही अधिक लोकप्रिय हुआ है। नामकरण के संदर्भ में प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर दी उन्होंने दुहरे नाम प्रस्तुत किए है। डॉ.रामकुमार वर्मा न 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में 693 ई से 1693 ई. तक की कालावधि को दी लिया है। इन्हों न संपूर्ण ग्रंथ को आठ प्रकरणों में विभक्त करते हुए सामान्य तथा शुक्लजी के वर्गीकरण को ही स्वीकार किया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी साहित्येतिहास को आदि युग, पूर्व मध्य युग, उत्तर मध्ययुग, आधुनिक युग-इस प्रकार काल विभाजन किया है। डॉ.गणपतिचंद्र गुप्त न एक नए ढंग से कालविभाजन प्रस्तुत किया है।

1. प्रारंभिक काल - 1184-1350 ई.
2. मध्य काल - 1350-1857 ई.
3. आधुनिक काल - 1857 से अब तक

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य' में संपूर्ण हिन्दी साहित्य को तीन कालों यथा – आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल में विभक्त करके प्राचीन काल की काव्य-परंपराओं का विवरण प्रस्तुत किया है।

डॉ. नगेन्द्र ने अपनी संपादित पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में काल विभाजन निम्न रूप में किया है-

1. आदिकाल – सातवीं शती के मध्य से चौदह वीं शती के मध्यतक।
2. भक्तिकाल – चौदहवीं शती के मध्य से सत्रह वीं शती के मध्य तक।
3. रीतिकाल – सत्रह वीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक।
4. आधुनिक काल – उन्नीसवीं शती के मध्य से अब तक पर इसका अंतर्विभाजन निम्न प्रकार हैं।

(क) पूनर्जागरण काल (भारतेन्दु काल) 1857-1900 ई.

(ख) जागरण-सुधार-काल (द्विवेदी काल 1900-1918 ई.

(ग) छायावाद-काल 1918-1938 ई.

(घ) छायावादोत्तर काल

(1) प्रगति-प्रयोग काल 1938-1953 ई.

(2) नवलेखन काल 1953 से अब तक

उपर्युक्त काल विभाजन और नामकरण की तुलना करने पर एक तथ्य सामने आता है कि शुक्लजी के द्वारा प्रतिपादित काल विभाजन व नामकरण में औचित्य है। इस औचित्य के परिणाम स्वरूप ही बाद के साहित्येतिहासकारों ने उनका अनुसरण किया है। डॉ.गणपति चंद्र गुप्त ने बहुत कम संशोधनों के साथ इस का समर्थन किया है। इसलिए इनका प्रयास भी अभिनंदनीय है। सीमित सामग्री की उपलब्धी के समय ही शुक्लजी ने सभी दृष्टियों से बेहतर काल-विभाजन व नामकरण प्रस्तुत किया है। इस के लिए वे प्रशंसनीय हैं।

4. आदिकालीन साहित्य की सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

1. प्रस्तावना :-

साहित्य और जीवन परस्पराश्रित होते हैं। साहित्य जीवन पर आधारित होता है तो जीवन साहित्य से अपने लिए आवश्यक रसंग्रहण करता है। इसलिए साहित्य का मूल्यांकन व साहित्य का रसास्वादन समकालीन जीवन और सृजनात्मकता के उपकरणों के आलोक में ही संभव हो सकता है। दूसरे शब्दों में साहित्य को परखने तथा विश्लेषण करने में समकालीन जीवन और सृजनात्मकता के उपकरण महत्वपूर्ण प्रतिमान बन जाते हैं। अत: साहित्य का मूल्यांकन और रसास्वादन के लिए उस साहित्य के रचना परिवेश और उस साहित्य की कलात्मकता के उपकरणों के साथ परिचय प्राप्त करना अनिवार्य होता है। साहित्य के रचना परिवेश का परिचय इतिहास से होता है। इसी रूप में सृजनात्मक या कलात्मकता के उपकरणों का परिचय काव्य शास्त्र से होता है। इस रूप में साहित्य का मूल्यांकन या रसास्वादन में इतिहास और काव्यशास्त्र का योगदान होता है।

2. साहित्येतिहास और पृष्ठभूमि :-

साहित्येतिहास में कालक्रम के अनुसार साहित्य का मूल्यांकन किया है। साथ ही काल सापेक्ष साहित्य को परखने तथा विश्लेषण करने की चेष्टा करता है। अर्थात् साहित्येतिहास में काल सापेक्ष या परिवेश सापेक्ष या इतिहास सापेक्ष साहित्य का मूल्यांकन ही किया जाता है। अत: साहित्येतिहास काल सापेक्ष साहित्य का मूल्यांकन ही होता है। यह मूल्यांकन भी जीवन सापेक्ष ही होता है।

इसलिए किसी भी समय के साहित्य का परिचय प्राप्त करने के लिए उसके साहित्येतिहास की शरण में जाना आवश्यक हो जाता है। साहित्येतिहास के द्वारा प्राप्त होनेवाली साहित्य का परिचय भी मूल्यांकन स्तर का होता है। इस के साथ-साथ साहित्य का परिचय इतिहास या काल सापेक्ष होने के कारण साहित्य परिचय या साहित्य रसास्वादन की प्रक्रिया अपने पूर्णत्व को प्राप्त करती है। अत: साहित्येतिहास साहित्यिक मूल्यांकन या रसास्वादन में चार चांद लगाता है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल का रसास्वादन या परिचय प्राप्त करने के लिए आदिकाल के साहित्येतिहास की शरण में जाना अनिवार्य हो जाता है। साहित्येतिहास में जैसा कि पहले कहा गया कि इतिहास और काव्य शास्त्र के नियमों को महत्व दिया जाता है। जिस इतिहास तथ्य परक होता है। इतिहास में समय सापेक्ष जीवन का विश्लेषण होता है। समय सापेक्ष जीवन को ही परिवेश या पृष्ठभूमि या नेपथ्य संदर्भ आदि नामों से पुकारा जाता है। दूसरे शब्दों में साहित्येतिहास में लेखक (साहित्येतिहासकार) पृष्ठभूमि और उसके विश्लेषण का अधिक प्राथमिकता देता है। साहित्येतिहास लेखक पृष्ठभूमि की ओर से साहित्य की ओर प्रवृत्ति होता है। उसकी कोण को साहित्य का समझने तथा समझाने की कोशिश करता है। पृष्ठभूमि के आशोक में साहित्य की ओर प्रवृत्ति होने से ही साहित्य के असलीमर्म को समझने की पूरी संभावना होती है, क्योंकि पृष्ठभूमि से कट कर कोई साहित्य दो हो नहीं सकता हैं। अत: साहित्येतिहास में पृष्ठभूमि परक अध्ययन अनिवार्य होता है जिस से साहित्य को समझने तथा विश्लेशन करने में सुविधा ही नहीं आसानी भी होती है।

पृष्ठभूमि समय सापेक्ष जीवन का यथार्थ रूप होता है जो साधारण तथा तथ्यपरक होता है। जीवन की तथ्यपरक प्रामाणिक सामग्री इतिहास के द्वारा प्राप्त होती है। अत: आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि को जानने के लिए आदिकालीन इतिहास को रटोलना होगा। आदिकालीन इतिहास से तथ्य परक सामग्री को प्राप्त कर के आदिकालीन साहित्य किस रूप पर उनका प्रभाव पड़ा है। विश्लेषित करना होगा। तभी आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों को तथा उस में वर्णित जीवन तथ उस की सच्चायों को समझ सकते हैं।

पृष्ठभूमि बहु आयामी होती है। जीवन में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का हिसाब उस में संचित होता है। जीवन में घटित होनेवाली घटनाएँ विषय क्षेत्र के सापेक्ष में भिन्न-भिन्न होती है। जीवन में घटित होनेवाली घठनाओं के बीच काल सापेक्ष क्रम होने पर भी विषय क्षेत्र के संदर्भ में भिन्नता होती है। कोई घटना राजनैतिक जीवन से संबंधित होती है तो कोई सामाजिक जीवन से इसलिए विषयक्षेत्र के सापेक्ष पृष्ठभूमि अनेक मुखी या अनेक आयामी होती है। जीवन जितना व्यापक होगा ये विषय क्षेत्र भी उतने ही व्यापक होंगे। ये विफल क्षेत्र भी फिर ऐसे कुछ होंगे जो बाकी को यातो अपने निमंत्रण में रखते हैं या उनको दूर दूर तक न केवल प्रभावित करते हैं। बल्कि शासन भी करते हैं। विषय क्षेत्रों की यह भूमिका समय सापेक्ष बदलती रहती है। यानी एक काल में कोई विषय क्षेत्र पूरे जीवन का निमंत्रित या शासित करता है तो दूसरे में और कोई दूसरा। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि में राजनीति का विषय क्षेत्र कुछ ऐसा ही है। आदिकाल की राजनीतिक

पृष्ठभूमि इतनी बलवती एवं नियामक शक्ति रखता है कि बाकी विषय क्षेत्र उस की अनुगामिनी बन गये है। फिर भक्ति काल में नियामक विषयक्षेत्र राजनीति से धार्मिक हो गया। परन्तु यहाँ एक बात का उल्लेख अवश्य करना होगा कि पृष्ठभूमि परक इन विषय क्षेत्रों में कोई एक नियामक होने पर भी बाकी था। अस्तित्व यही बना रहेगा। इतना तो सही होगा कि पृष्ठभूमि का यह विषय क्षेत्र ही उस काल के साहित्य की प्रवृत्ति दूर-दूर तक प्रभावित करेगा।

4.3 हिन्दी साहित्य का आदिकाल और उसकी पृष्ठभूमि :-

हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले 'आदि' शब्द के आरंभ, प्रारंभ, प्रथम, मूल, प्राचीन आदि अर्थ लिए जाता है। साहित्येतिहास के क्षेत्र में 'आदि' मात आरंभिक या प्रारंभिक अर्थ में लिया जाता है। इस अर्थ में 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', यानी हिन्दी साहित्य का प्रारंभिक काल या आरंभिक काल है। सहजत: प्रश्न उठता है कि हिन्दी साहित्य का आरंभ किस काल से हुआ है। यह एक विवादास्पद मुद्धा है। साहित्य का आरंभ किसी साहित्यिक कृति निर्माण से ही होता है। कौन सी साहित्यक कृति हिन्दी साहित्य की पहली कृति है, इस पर हिन्दी साहित्य का आरंभ निर्भर होता है। 'पहलीकृति' से संबंधित चर्चा भी हमेशा विवादास्पद होती है क्योंकि साहित्यिक कृति किसी भाषा के माध्यम से ही व्यक्त होती है। क्योंकि साहित्यिक कृति किसी भाषा के माध्यम से ही व्यक्त होती है। भाषा तो सतत गतिशील जीवंत धारा होती है। साहित्य इस गतिशील प्रवाह के एक समय की मानवीय भावनाओं का मानवीय लिपिबद्ध स्थायी रूप हैं। यानी साहित्य की अभिव्यक्ति के लिए किसी एक समय की भाषा के मानव की रूप का ही इस्तेमाल किया जाता है। कोई भी भाषा इस वांछित मानक रूप को तभी पा सकता है जब वह भावनाओं और विचारों को संप्रेक्षण करने के लिए पर्याप्त प्रौढता प्राप्त करती है। कोई भी भाषा जन्म के साथ ही प्रौढ़ रूपधारण नहीं कर सकती है। जन प्रयोग में जब उसका रूप निखरता है। किंतु प्रयोग में उसका कोई प्रामाणिक व मानकीय रूप उभरता है तब वह साहित्य संप्रेक्षण के लिए सक्षम हो जाती है। अत: किसी भी भाषा-साहित्य का उद्‌भव का प्रश्न मात्र प्रथम साहित्यिक कृति और उसे प्रतिष्ठित करने वाले समीक्षकों व साहित्येतिहास लेखकों तक ही सीमित बंदा होता है। बल्कि भाषायी परिवर्तनों के सूक्ष्म परिखी भाषा वैज्ञानिकों की खोजों से भी जुडा रहता है। विशेष कर उद्‌गम समय की पहचान भाषायी गुत्थियों को समझने के बाद ही हो सकती है।

4.4 हिन्दी भाषा और साहित्य का आरंभ :-

हिन्दी भाषा और साहित्य के आरंभ को निर्धारित करने की दिशा में अब तक कई प्रयास किए गये हैं। प्रारंभ में हिन्दी साहित्य के उद्‌भव को निर्धारित की दिशा में साहित्यिक कृति को आधार मान लिया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे आज विज्ञान के क्षेत्र में हुई नयी खोजों के कारण इस क्षेत्र में नयी-नयी स्थापनाएँ हुई। इनके कारण कई पुरानी बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जानेवाली स्थापना गलत साबित हो गयी हैं। आज हिन्दी भाषा के उद्‌भव को लेकर भारतीय भाषा वैज्ञानिकों की निश्चित स्थापनाएँ हुई हैं। परन्तु उनकी सारी रचनाएँ भी उपलब्ध हिन्दी प्राचीन साहित्य के आधार पर ही उधृत हैं। अत: हिन्दी के प्राचीन साहित्य की छानबीन के द्वारा ही हिन्दी भाषा-साहित्य के उद्‌भव का प्रश्न सुलझ सकता है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के क्षेत्र में अब तक कई प्रयास किए गए हैं। फिर भी आज भी रामचंद्रशुक्ल जी का प्रयास (हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रंथ) ही अधिक उत्तम और वैज्ञानिक माना जाता है। सन् 1929 में लिखा गया उनका हिन्दी साहित्य का इतहास ग्रंथ को लेकर कई मत भेद और वाद-विवाद हैं। भाषायी एवं साहित्यिक नये अनुसंधानों की उपलब्धियों तथा स्थापनाओं के बावजूद शुक्लजी की स्थापनाओं एवं मान्यताओं का अपना महत्त्व है। आचार्य शुक्लजी के लिखी साहित्य के प्रारंभिक काल के नामकरण व विभाजन के विरोध व्यक्ति किए जाने वाले विचारों का मूल आधार उनके द्वारा उल्लिखित प्रारंभिक काल की साहित्यिक कृतियों की सूची है। उक्त सूची की कृतियाँ ये हैं - 1. विजयपाल रासो 2. हम्मीर रासो 3.कीर्तिलता 4. कीर्तिपताका ये साहित्यिक कृतियाँ कही गयी हैं। 5.खुमान रासो 6. बीसलदेव रासो 7.पृथ्वीराज रासो 8. जयचंद्र प्रकाश 9. जयमयंक जस चंद्रिका 10. परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप) 11. खुसरो की पहेलियाँ आदि 12. विद्यापति की पदावली ये आठ देश भाषा काव्य कृतियाँ कही गयी हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की उक्त सूची से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने उन कृतियों में प्रयुक्त भाषा के आधार पर आदिकाल की कृतियों को दो वर्गों में बांट दिया है। शुक्लजी के अनुसार उनकृतियों में 1. साहित्यिक भाषा 2. देशी भाषा (लोक भाषा या व्यावहारिक भाषा) का प्रयोग हुआ है। शुक्लजी की यह स्थापना और मतभेद का विषय बना क्यों कि उत्तर अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी उस भाषा रूप के विद्वान कहते आये है कि जिस में साहित्यिक अपभ्रंश के सभी तत्व परिवर्तनोन्मुख थे तथा जिस में हिन्दी के बीज रूप स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। यह व्यावहारिक भाषा या देशीभाषा से बिलकुल अलग थे। भाषा वैज्ञानिक नियमों के अनुसार भी इस भाषा रूप से नयी भाषा

व का जन्म मानना उचित लगता है। वैसे विद्वानों ने इसे संध्य भाषा और अ हट्ट नाम दिए। जिस से यह मामला सुलझने की जगह और उलझ जाता है।

डॉ. रामकुमार वर्मा, पंडित राहुल सांकृत्यायन, गुलेरी जी ने इस संधिस्थल की भाषा को पुरानी हिन्दी मानते हुए उस में लिखी गयी रचनाओं को हिन्दी साहित्य के अंतर्गत ही स्थान दिया है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि कुछ साहित्येतिहास लेखकों ने शुक्लजी के साथ असहमती व्यक्त करते हुए भी अपभ्रंश रचनाओं का विवेचन आदिकाल के अंतर्गत ही किया है। इस संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार भी बहुत स्पष्ट नहीं है। उन्होंने लिखा है ''इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी। .... बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलता था। यद्यपि इस में नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था। '' द्विवेदी जी के अनुसार अपभ्रंश भाषा में चौदहवीं शताब्दी तक रचना होती थी। यहाँ तक कि उसके बाद होती थी। यहाँ तक कि उसके बाद भी। परन्तु बारहवीं शताब्दि के तात्विक परिवर्तन शुरू हुए थे। इन परिवर्तनों को द्विवेदी जी पुरानी हिन्दी के बीजांकुर मानते हैं। इस के लिए उन्होंने मुख्यतया शब्द भंडार का आधार बताया। शुद्ध अपभ्रंश में शब्दों के तद्भव रूप ज्यादा प्रयुक्त होते थे। उसकी जगह तत्सम शब्दावली के प्राचुर्यत के साथ ही भाषा का रूप बदल गया था। इस नवोदित भाषा को वे हिन्दी कहना चाहते हैं। कुछ सीमा तक द्विवेदीजी का यह विचार स्वीकारोग्य है, क्योंकि भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी आधुनिक आर्य भाषा काल में (हिन्दी के साथ) द्वित्व व्यंजनों की कमी तथा तत्सम शब्दों का प्राचुर्य अनिवार्य परिवर्तन माना गया है। स्पष्ट है कि यह शुद्ध अपभ्रंश से अलग भाषा है। इसे पुरानी हिन्दी या हिन्दी का प्रारंभिक रूप कहना ज्यादा समीचीन है। इस प्रकार पुरानी हिन्दी की सारी रचनाएँ कहीं हैं। आदिकाल के साहित्य के अंतर्गत आती हैं। शुद्ध अपभ्रंश की रचनाओं को आदिकाल के अंतर्गत रखने की आवश्यकता ही नहीं होती है। इस प्रकार भाषा विज्ञान की दृष्टि से किंतु, भाषा परिवर्तन की दृष्टि से आदिकाल के प्रारंभ को निर्धारित किया जा सकता है।''

4.5 आदिकाल की कालावधि :-

हिन्दी साहित्य की प्रथम रचना और प्रथम कवि के बारे में मतभेद न हिन्दी साहित्य के आदिकाल की कालावधि को भी विवादास्पद बना दिया है। आदिकाल का आरंभ तथा अंत दोनों को लेकर साहित्येतिहास लेखकों में एक मत नहीं है। फिर इस में आदिकाल के उद्भव को लेकर अधिक

मतबेद हैं। 8 सदी ई० से (सरहपा का रचनाकाल 769 ई.) लेकर बारहवीं सदी ई.(शाल्मिद सूरि की भरतेश्वर हु बलिदास के रचनाकाल 1184 ई.) अंत तक आदिकाल के उद्भव समय को मानने की कोशिश की गयी हैं। बडे आश्चर्य की बात है कि हिन्दी साहित्य का आरंभ बहुत अर्वाचीन माननेवाले साहित्येतिहासकारों ने भी आदिकाल की उपलब्ध सामग्री के अंतर्गत सिद्ध और नाथ साहित्य को स्वीकार किया है। आचार्य शुक्लजी ने आदिकाल की पूर्वी सीमा 993 ई. का मानते हुए भी आदिकाल के अंतर्गत सिद्ध-नाथ साहित्य का विवेचन तो किया। लेकिन उस धार्मिक साहित्य कहते हुए फिर उसे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत स्वीकार नहीं किया है जो बहुत उचित नहीं लगता है। शायद भाषा और साहित्य की संदिग्ध अवस्था ने उनको ऐसा करने को विवश किया होगा।

सर्वश्री राहुल सांकृत्यायन, डॉ.ग्रियर्सन, शिवसिंह सेंगर, मिश्रबन्धु, गुलेरीजी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ.रामकुमार वर्मा प्रभुति साहित्येतिहासकारों ने आदिकाल की पूर्वी सीमा को 8वीं सदी ई. माना है। राहुल सांकृत्यायन सरहपा की रचना को आधार बनाकर पूर्व सीमा आठवीं सदी ई. के रूप में निर्धारित किया है। उन के इस मत के विरोध में यह आपत्ति की जाती है कि सरहपा की रचनाएँ अपभ्रंश में हैं। अपभ्रंश में रचनाएँ आठवीं सदी के पूर्व और बाद में पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी तक भी होती रही हैं। परन्तु अब यह आपत्ति निराधार हो गयी है। आज यह स्थापित हो चुका है कि हिन्दी के समानांतर शुद्ध अपभ्रंश साहित्य आठवीं सदी ई० के पहले और उसके और बाद तक होता रहा परन्तु सरहपा की भाषा उस अपभ्रंश से भिन्न भाषा है। अत: अपभ्रंश के आधार पर आदिकाल की पूर्वीसीमा आठवीं सदी ई के पहले तथा उतिर सीमा 15 वीं. सदी ई. तक मानना अवैज्ञानिक है। यहाँ पर एक बात का उल्लेख करना चाहिए कि सरहपा की रचनाओं के बाद पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश के भिन्न भाषा या देशी भाषा या हिन्दी में साहित्य की क्रमिक धारा नहीं मिलती है। सिद्धों के द्वारा अपभ्रंश के विरोध में अपनायी गयी जन भाषा में कृतियाँ होती रही हैं। इसी प्रकार की भाषाई धारणा रखने वाले अब्दुरहमान ने 'संदेशरासक' के लिए जनभाषा का प्रयोग किया है। आगे अपभ्रंश से भिन्न इस जन भाषा में गोरखनाथ की 'गोरखबानी' तथा आज संदिग्ध मानेजाने वाले रासो ग्रंथों का प्रणयन हुआ है। 8 वीं सदी ई. के बाद भी साहित्यिक धारा की क्रमहीनता के बाद धीरे-धीरे अपभ्रंश से भिन्न इस भाषा में साहित्य की क्रमधारा पनपने लगती है। यह अपभ्रंश साहित्य के समानांतर बहने वाली दूसरी धारा था। एक हिन्दी साहित्य धारा के रूप में तथा रासो साहित्य की भाषा को हिन्दी मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अत: हिन्दी साहित्य की पूर्वी सीमा आठवीं सदी ई. (या 769 ई.) अत्यंत समीचीन लगता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के विचारों से ही इसे पुष्टि मिलती है। उन्होंने भी अपभ्रंश की दो

भिन्नधाराओं का उल्लेख किया है। 'हेमचंद आचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। वस्तुत: यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।'

आदिकाल की पूर्व सीमा के संदर्भ में जिस रूप में मतभेद रहा इसी रूप में उत्तरी सीमा के संदर्भ में मतभेद रहा है। वैज्ञानिक ढंग से हिन्दी साहित्य का कालनिर्णय करनेवाले प्रप्रथम साहित्येतिहास कार डॉ.ग्रियर्सन है। डॉ.ग्रियर्सन ने आदिकाल की अंतिमसीमा 1400 ई. तक मानी है। मिश्रबन्धुओं ने आदिकाल की समाप्ति की सीमा को 1389 ई. तक माना है। शुक्लजी ने 1318 ई. तक माना है। डॉ.रामकुमार वर्माजी शुक्लजी के मत से सहमत हैं। अधिकांश साहित्येतिहासकार शुक्लजी से सहमत है। शुक्लजी ने विद्यापति को वीरगाथाकाल के कवि के रूप में ही माना है। उन्होंने यह भी कहा है कि विद्यापति सन् 1403 ई. (संवत् 1460) तक तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ वर्तमान थे। उनकी पदावली उसी समय लिखा गया था। कुछ साहित्येतिहासकारों ने विद्यापति को भक्तिकाल में रखने का प्रयास किए है। यह समीचीन नहीं है क्योंकि विद्यापति की रचनाओं में जो भक्ति निरूपण हुआ है। वह भक्तिकाल की भक्ति-प्रवृत्ति से अलग है। अत: विद्यापति को आदिकालीन कवि मानते हुए, जैसे शुक्लजी आदि ने माना भी है। चौदहवीं सदी ई. के अंत तक आदिकाल की अंतिम सीमा मानना ज्यादा समीचीन है। निष्कर्ष निकलता है कि शुक्लजी के द्वारा निर्धारित 1318 ई. बाद भी सत्तर-अस्सी सालों तक आदिकालीन साहित्य का प्रसार देखा जा सकता है। इस संबंध में मिश्रबन्धुओं का विचार ज्यादा तर्क सम्मत है।

4.6 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि :-

साहित्य सृजन जीवनोन्मुख होता है। जीवन निरपेक्ष साहित्य अवास्तविक व ऊहात्मक होता है। इस से जीवन को न कोई गति मिलती है, न वह जीवन के लिए उपयोगी सिद्धि हो सकता है। बहुधा साहित्य को जीवन के सापेक्ष ही देखा जाता है। जीवन सापेक्ष ही उसका मूल्यांकन व रसास्वादन संभव हो सकता है। जीवन और साहित्य के इस संबंध के कारण ही साहित्य के माध्यम से जीवन को तथा जीवन के माध्यम से साहित्य समझा जा सकता है। किसी भी साहित्य का जीवन सापेक्ष मूल्यांकन ही सब से श्रेष्ठ, माना जाता है। जीवन और कुछ नहीं बल्कि परिस्थितियाँ परिवेश, संदर्भ व पृष्ठभूमि आदि विभिन्न नामों से अभिव्यक्त किया जाता है। आदिकालीन साहित्य को समझने के लिए आदिकालीन पृष्ठभूमि को समझना इसलिए आवश्यक हो जाता है, जैसे पहले कहा जा चुका है कि विषय क्षेत्र के आधार पर यह पृष्ठभूमि अनेक आयामी होती है, जैसे सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक आदि।

4.6.1 आदिकालीन साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि :-

सामाजिक जीवन सामाजिक शांति और सामाजिक अशांति बहुत कुछ शासन और उसकी व्यवस्था में राजा और उसका शासन ही सर्वोपरी होता है। राजा के शासन के द्वारा ही पूरा समाज शासित होता है। इसलिए सामाजिक सुख-दु:ख शासन सापेक्ष ही होते हैं। आदिकाल राजनैतिक दृष्टि से बहुत अव्यवस्था का युग रहा। युद्ध के बादल हमेशा मंडराने के कारण शासन भी युद्धोन्मुख ही होता था। युद्धों का तथा शासन की अव्यवस्था का आदिकालीन समाज पर गहरा प्रभाव था। राजकोष का अधिकांश धन युद्धों में खर्च होता था। सामाजिक विकास के लिए पर्याप्त धन नहीं बचता था। इसलिए समाज धीरे-धीरे आर्थिक रूप से पंगु हो रहा था। वैदिक धर्म के रूप में समाज में वर्णाश्रम धर्म का बोलबाला था। इस वर्णाश्रम धर्म के प्रभाव से जातिवाद महामारी की तरह समाज में फैल गया था। समाज के विभिन्न वर्गों के बीच स्नेह सद्‌भावपूर्ण संबंध नहीं थे। छूआछूत की समस्या समाज को विघटित व खंडित कर रही थी। जाति-पांति के नियम भी कडे होते थे। उच्च जाति के लोग शासन से आवश्यक समर्थन और साधन जुटाकर सुख भोग करते थे। निम्न जाति के लोग कर्मफल सिद्धांत को मानते हुए अपने भाग्य को कोसते थे। वे निरंतर श्रम करते हुए भी उच्च जाति के लोगों की दया पर जीते थे।

शासन के साथ सीधा संबंध रखनेवाले उच्चजाति के लोग वीरता, आत्मबलिदान और भोग विलास के पर्याय बन गये थे। महलों में रहनेवाली राजपुत नारियाँ त्योहार मनाना या आत्म त्याग करना अपना गौरव मानती थी। समाज में नारी की दशा भी धर थी नहीं था। पितृ सनात्मक व्यवस्था के कारण सभी अधिकार और स्वेच्छा पुरुष केन्द्रित ही थी। नारी का बुरा हाल थी। नारी का मत योग्य रूप के बच गया था। वह खरीद-फरोख्त तथा अपहरण करने की वस्तु मानी जाती थी। समाज में शिक्षा की व्यवस्था भी ठीक नहीं थी। समाज का उच्चवर्ग ही शिक्षा प्राप्त कर सकता था। निम्न जातियों तथा स्त्रियों को शिक्षा से दूर रखा जाता था। सती प्रथा, वेश्यालोलुपता आदि सामाजिक विकृतियाँ समाज को खंडित कर रही थी। विदेशियों के आक्रमण तथा उनकी लूट-खसोट से समाज की आर्थिक स्थिति छिन्न-भिन्न हो गयी थी। जीविका के साधनों के अभाव में गरीबी बढ़ती जा रही थी। युद्धों से व्यस्त रहने के कारण राजा गरीबी को दूर करने के उपाय लागू करने में असमर्थ थे। ऊपर से सूखा और महामारी जैसे महा संकटों ने समाज की बची कुची शक्ति को तोड़ दिया था।

आदिकालीन धार्मिक उथल-पृथल ने भी समाज पर बुरा प्रभाव ही डाला। वैदिक धर्म के विरोध में उद्‌भुत जैन और बौद्धधर्म में भी बिनाशकारी परिवर्तन शुरू हो गये थे। आदि शंकराचार्य के

द्वारा प्रतिपादित अद्वैत से बौद्धधर्म को काफी नष्ट पहुँचा। बौद्ध धर्म अपनी अहिंसा से हटकर जंत्र, मंत्र, तंत्र की सिद्धियों की ओर उन्मुख हो गया था। बौद्धधर्म में महायान, वज्रयान, सहजयान और मंत्रयान नाम से शाखाएँ विकसित हो गयी थीं। सैद्धांतिक पक्ष के खोखलेपन से इन में व्यावहारिक पक्ष बल पकड़ता गया। अलौकिक शक्तियों व सिद्धियों के लिए गुप्त मंत्रों का जप, आचारविहीन गुप्त क्रियाओं-विशेषकर निम्न वर्ग की स्त्रियों से भोग आदि बढ़ते गये। नैतिक स्तर गिरकर धर्म में बढ़ती गयी। जैनधर्म में भी वामाचार पद्धति का प्रचार हुआ। बौद्ध अनैतिकता बढ़ती गयी। जैनधर्म में भी वामाचार पद्धति का प्रचार हुआ है। बौद्ध और जैनधर्म के इस व्यावहारिक पक्ष का प्रभाव विशेषकर समाज की निम्न जातियों पर अधिक रहा। बीच-बीच में धर्म के क्षेत्र में बढ़नेवाली इस अनैतिकता को रोकने नाथयोगियों के द्वारा प्रयास किए गए। धार्मिक क्षेत्र में हुए इन परिवर्तनों के कारण सामाजिक जीवन भी दूषित होता गया। स्पष्ट है कि आदिकालीन समाज पतनोन्मुखी राजनीतिक परिस्थितियों, धार्मिकक्षेत्र के परिवर्तनों के कारण अधिक असंगठित, रूढ़ीवादी, अंधविश्वासी और विलासी होकर जनजीवन को दूषित कर रहा था।

4.6.2 आदिकालीन साहित्य की राजनैतिक पृष्ठभूमि :-

आदिकालीन भारत में सामंतवादी व्यवस्था थी। राजा सर्व शक्तिमान और निरंकुश होता था। राजनीति का प्रभात प्रजा पर सर्वोपरी था। आदिकालीन राजनीति दो मुख्य कारणों से बहुत ही अर्थव्यवस्थित और कमजोर थी। इस काल की राजनीतिक अव्यवस्था का मुख्य कारण विद्रोही आक्रमण थे। इस समय पूरा उत्तर भारत मुसलमान आक्रमणकारियों के कारण बुरी तरह आतंकित था। सम्राट हर्षवर्धन (सन् 606 से 643) के देहांत के बाद उत्तर भारत में राजनीतिक संगठन खतरे में पड़ गया था। इस केन्द्रिय शक्ति की कमजोरी से विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों ने फायदा उठाया। ये अफगनिस्तान मार्ग से भारत में प्रवेश कर गये। उस समय के इतिहास से स्पष्ट होता है कि मुसलमानों ने सर्व प्रथम 710-11 सन् में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में सिंध पर आक्रमण किया उस समय सिंध का राजा खादिर ने बडे साहस के साथ उनका सामना किया परन्तु वे हार गये। इस पराजय का एक कारण जारों कसहयोग भी था। जारों ने आपसी वैमनस्य के कारण राजा आदिर की सहायता ही नहीं कि बल्कि मुसलमान आक्रमण कारियों की सहायता की। इसी प्रकार सिंध के बौद्धों ने भी अपने राजा का साथ नहीं दिया। गृह कलह और आपसी स्वार्थ के लिए विदेशियों का साथ देना उस समय की राजनीतिक अव्यवस्था का दूसरा मुख्य कारण माना जा सकता है। फिर 739 ई. में इस समय के अरब राजा ने एक बार भारत के सिंध, गुजरात, मारवाड़ु, उज्जैन आदि प्रदेशों पर दावा बोल दिया।

चालुक्य सेनापति ने उन्हें मुहतोड़जवाब दिया। इस रूप में लग भग 9 वीं सदी ई. तक मुसलमान आक्रमणकारी मात्र सिंध तक ही प्रवेश कर पाये थे।

10 वीं और 11वीं सदी ई. में उत्तर भारत में कोई बडा राजनीतिक संगठन नहीं देखा जाता है। तब तक पूरा उत्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था। मोटे तौर पर उन छोटे-छोटे राज्यों के बीच स्नेह और सद्भाव की जगह द्वेष और वैमनस्य ही अधिक था। 10 वीं सदी में गजनवी महमूद ने अपने साम्राज्य का विस्तार करना शुरू किया। उसने पंजाब और कांगडा को जीत लिया। बाद में मथुरा और कन्नौज पर कब्जा किया। यहाँ अपना बल मजबूत करके सौराष्ट्र पर दावा बोलकर सोमनाथ मंदिर से अपार धनराशि लूटी। आगे मालवा के भोज और चेदि के कर्ण ने मुसलमान आक्रमणकारियों का डट कर विरोध किया। उन्होंने कुरुक्षेत्र और कांगडा को शत्रुओं के हाथों से मुक्त कराया।

विदेशी आक्रमणकारियों के साथ यह संघर्ष योग भी जारी रहा। 11वीं०, 12वीं० सदी में दिल्ली में तोमर अज़मेर में चौहान और कन्नौज में गाहड़वालों के शक्तिशाली राज्य थे। सन् 1150 में अजमेर के बीसलदेव चौहान ने तोमरों से दिल्ली और झांसी लेकर हिमालय तक अपना राज्य फैला लिया और पंजाब से तुर्कों को भगा दिया। गजनी के बाद महत्वपूर्ण मुसलमान आक्रमण गोरी के नेतृत्व में हुआ। शरीर के आक्रमणों का लक्ष्य था साम्राज्य विस्तार, धनप्राप्ति, एवं इस्लाम का प्रचार प्रसार करना। गोरी और पृथ्वीराज चौहान के बीच में भीषण युद्ध हुए। तराइन प्रथम युद्ध सन् 1191 में तथा तराइन का द्वितीय युद्ध 1192 ई. में षडयंत्र के कारण ताराइन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज परास्त हो गया और उत्तर भारत में एक शक्तिशाली शासक का पतन हो गया। गोरी के बाद भी भारत पर विदेशी आक्रमण होते रहे। गोरी के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक (सन् 1206)ने दिल्ली पर कब्जा किया और दासवंश के शासन की स्थापना की। यह लगभग 1290 तक चलता रहा। फिर लगभग सन् 1290 से सन् 1320 तक दिल्ली का शासन खिल्जी वंश के शासकों के हाथों में रहा। फिर खिल्जी वंश के पतन के बाद गयासुद्दीन व तुगलक शासन की स्थापना की। यह सतत देशीय राजाओं की पराजयी और पतन विदेशी आक्रमणकारियों की वीरता के कारण नहीं बल्कि देशीय राजाओं का गृह कलह आपसी द्वेषपूर्ण भेदभाव, कुटिल राजनिति और संकुचित राष्ट्रीयता आदि के कारण ही हुआ। यदि भारतीय राजा सम्मिलित होकर विदेशियों का सामना करते तो विदेशियों की पराजय निश्चित था। प्रजा में इतनी राजनीतिक चेतना नहीं था कि इन सब के बारे में वे योग-विचार कर सके।

4.6.3 आदिकालीन साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :-

भारत पहले से संस्कृति-समूह देश रहा है। असीम प्राकृतिक संपदा से भारत सभी क्षेत्रों में काजी विकसित रहा है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति इतनी विकसित था कि भारत इसलिए विदेशी आक्रमणों के लिए आकर्षण केन्द्र बना रहा। हर्षवर्धन के शासन काल तक भारतीय संस्कृति अपने चरण शिखा तक पहुंच गयी थी। साहित्य, संगीत, चित्रकला, युद्धकला, मूर्तिकला, कारीगरी, कृषि, खान-पान-पहनने की वस्तुएँ आदि के क्षेत्र में भारत ने अद्वितीय विकास किया था। हर्षवर्धन जैसे प्रतापी राजा ने समृद्ध संस्कृति के धरोहर भारत का एक राष्ट्र बना दिया था। उस समय भारतीय संस्कृति की नियंत्रक शक्ति धर्म था। सभी ललित कलाएँ तथा उपयोगी कलाएँ धर्म से ही प्रभावित तथा नियंत्रित थी। कांची, बेलोर, तंजौर, अजंता, एल्लौर, सूर्यमंदिर, भुवनेश्वर, खुजरहो, सोमनाथ मंदिर आदि भारतीय स्थापत्य कला के उदाहरण ही नहीं बल्कि धार्मिक उन्नति के गढ़ भी थे। इतनी सुदृढ संस्कृति को देखकर विदेशी आक्रमणकारी तक मुग्ध हुए थे। अरब इतिहासकार अलबरूनी तथा महमूद गजनवी आश्चर्य चकित हुए थे।

भारत की यह संस्कृति भव्यता न विदेशियों को स्पर्धावान और ईर्ष्यालु बना दिया। नयी युद्ध कला से अनुप्राणित विदेशी आक्रमणकारी अपने साथ अपनी संस्कृति को भी साथ लाये थे। इसलिए काल दो भिन्न संस्कृतियों के आपस में टकराहट का काल रहा। इस टकराहट में उदारता की मानसिकता कम और शंका व संदेह की मानसिकता ज्यादा थी। परिणामत: शासक के बदलने से एक ओर भारतीय संस्कृति को अविकसित सिद्ध करने के प्रयास शुरू हुए। जगह-जगह भारतीय संस्कृति के भव्यचिह्नों तक को मिटाने के प्रयास किए गए। दूसरी ओर भारतीय के भव्य चिहनें तक का मिटाने के प्रयास किए गए। दूसरी ओर भारतीय संस्कृति मुस्लिम संस्कृति के गहरे रंग में रंगने लगी थी। पहनने-ओडने, खान-पान, मनोरंजन, विवाह, उत्सव जैसे संस्कृति के मूल आधार आयात संस्कृति के अनुरूप बदलन लगे थे। चित्रकला, संगीत, मूर्तिकला आदि उचित कलाएँ भी बदलने लगी थी। भारतीय संगीत में सारंगी, तबला, तथा अलगोबा जैसे विदेशी वालों का समावेश होने लगा था। तत्कालीन हिन्दु राजा अपने दरबारों को मुसलमान बादशाहों के दरबारों के अनुकरण पर समाना गौरव पूर्ण समझते थे। ललित कलाओं के क्षेत्र के इस परिवर्तन भारतीय संस्कृति को बडा सदमा पहुँचाया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदिकाल में उच्च उत्कर्ष प्राप्त भारतीय संस्कृति में नव आयातति मुसलमान संस्कृति के सहवास से ह्रासोन्मुख एवं मिश्रित रूप उभर रहे थे। आदिकालीन हिन्दी साहित्य भारत में हुए इन सांस्कृतिक परिवर्तनों को अपने समूचे में प्रतिबिंबित करता है।

5. आदिकाल का नामकरण : विविध मत

साहित्येतिहास लेखन में 'कालों' का नामकरण का भी महत्व रहता है। नामकरण काल बोधक और प्रवृत्तिबोध होने से उसकी सार्थकता बनी रहती है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का नामकरण करने के अनेक प्रयास किये गए हैं। उनमें मुख्यतया दो नामकरण वीरगाथा काल (आचार्य रामचन्द्रशुक्ल) आदिकाल (डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ.रसाल आदि) ज्यादा चर्चित व प्रचलित हुए हैं। शुक्लजी के 'वीरगाथाकाल' नामकरण के खिलाफ कई तर्कपूर्ण आपत्तियाँ उठाई गयी हैं। शुक्लजी तथा कथित 12 वीरगाथा काव्यों का उल्लेख करते हुए इस कालावधि में वीरगाथाओं की रचना-प्रवृत्ति को प्रधान मानते हैं। इसी के अनुरूप प्रवृत्ति बोधक के रूप में उन्होंने काल का नामकण 'वीरगाथा काल' किया। इस के विरोध में दो मुख्य अपत्तियां उठायी गयी हैं। पहली आपत्ति यह है कि उन 12 काव्यों में अधिकांश संदिग्ध रचनाएं हैं। इसे स्वयं शुक्लजी ने स्वीकार किया है। दूसरी आपत्ति यह है कि आदिकाल की पूर्व सीमा 769 ई. मानव से वीरगाथा-रचना प्रवृत्ति अपने आप में गौण हो जाती है। अत:शुक्लजी का 'वीरगाथाकाल' नामकरण आज मान्य नहीं हो सकता है। 'आदिकाल' के नामकरण को आज के अनेक विद्वान उचित मानते हैं। परन्तु यह नामकरण भी बहुत उपयुक्त नहीं लगता है। आदिकाल मात्र कहने से किसी भाषा या भाव या किसी पृष्ठभूमि का साजबोध नहीं होता है। इस से भाषा विकास, साहित्यिक प्रवृत्ति वाद विकास दोनों का कोई बोध नहीं होता है। परन्तु नामकरण करने में गौण महत्व रखनेवाले कालबोध इस से अवश्य हो जाता है।

अन्य साहित्येतिहासकारों ने चारण काल (ग्रियर्सन) प्रारंभिक काल (मिश्रबन्धु, डॉ.शिवकुमारशर्मा) संधिकाल एवं चारणकाल (डॉ.रामकुमारवर्मा) सिद्ध-सामंत काल (पु. राहुल सांकृत्यायन) वीरकाल (प.विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) आदि नामकरण किए हैं। ये सभी नामकरण सर्वथा शेषरहित नहीं है। हिन्दी साहित्य के काल विभाजन व नामकरण के क्षेत्र में ग्रियर्सन का ही प्रथम प्रयास है। उन्होंने इस काल का आरंभ 643 ई. से माना है। लेकिन वे रस काल में तथा बाद में कम से कम 1000 ई. तक किसी कारण रचना का उल्लेख नहीं कर सके। ग्रियर्सन के बाद मिश्रबन्धुओं ने 'प्रारंभिक काल' (643ई. से 1387 ई. तक) का नामकरण किया 'प्रारंभ' एक सामान्य संज्ञा है। जिस से किसी भाषा का विकास व साहित्यिक प्रवृत्ति के विकास का पता नहीं चलता है। उनकी दृष्टि मुख्यतथा 'हिन्दी भाषा' के विकास पर रही। इसलिए उन्होंने इस काल का पुनर्विभाजन व पुनर्नामकरण किया। पूर्व प्रारंभिक हिन्दी (643ई.-1290ई.) चंद पूर्व की हिन्दी (643-1143ई.) रासो काल (1143ई.-1290ई.) उत्तर आरंभिक हिन्दी (1291ई.-1387ई.)। इन नामों से आदिकाल कोई विशेष पहचान संभव नहीं है।

'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में डॉ.रामकुमार वर्मा ने विवेच्यकाल को संधिकाल और चारणकाल - नाम से दो खंडों में विभाजित किया है। 'संधिकाल' भाषाई संक्रांति स्थिति को तथा चारणकाल कवियों के वर्ग विशेष को स्पष्ट करते हैं। फिर भी दोनों मिलकर विवेच्यकाल को पूर्ण रूप से ध्वनित करने में सफल नहीं होते है। पं. राहुल सांकृत्यन जी ने इसे सिद्ध-सामंत काल कहा है। यह सही है कि विवेच्य युग का आरंभ सिद्धों के साहित्य से ही होता है। इस के साथ-साथ काव्यों में सामंतों की प्रशस्तियों ही मिलती हैं। लेकिन इस नामकरण में जैनियों की आध्यात्मिक,धार्मिक उपदेश प्रवृत्ति तथा विद्यापति आदि की श्रृंगार पवृति का ध्वनन नहीं होता है। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'वीरकाल' वीरगाथा काल का ही अनुकरण मात्र है। इसी प्रकार आचार्य महवीर प्रसाद द्विवेदी जी का 'बीज वपनकाल' भी बहुत उचित नहीं लगता है क्यों कि इस काल के कवियों ने अपने पूर्व युगों का समुचित निर्वाह करते हुए कुछ नयी साहित्यक प्रवृत्तियों का विकास भी किया है। उनकी रचनाओं पर शैशवता का आरोप करना उचित नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में हिन्दी साहित्य के आदिकाल को 'अभ्युदय काल' कहना अधिक तर्क सम्मत लगता है, क्योंकि 'सुरय' शब्द अनेकार्थी शब्द है। इसके वृद्धि, उन्नति, मनोरथ की सिद्धि,बढती, आनंद, शुभफल, शुभझवसर आदि अर्थों के साथ-साथ उद्भव, आरंभ भी प्रचलित हैं। वास्तव में आदिकाल हिन्दी भाषा के साहित्यक गौरव प्राप्त करने का उद्भव काल है। सत्य ही आध्यात्मिक, धार्मिक, श्रृंगार, वीरता आदि साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी उद्भवकाल है। आगे ये ही साहित्यिक प्रवृत्तियाँ आधुनिक काल तक पुष्पित और पल्लवित होने लगती है। आचार्य शुक्लजी ने अपने इतिहास में विवेच्य काल की राजनीतिक परिस्थितियों का आकलन करते हुए हिन्दी साहित्य के संदर्भ में 'अभ्युदय' शब्द को इसी अर्थ में सोद्देश्य प्रयोग किया है। 'सारांश यह है कि जिस समय से हमारे हिन्दी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, इक्कीसवाएँ संस्करण, सं०2042, पृ० 822) इस प्रकार भाषा शिल्प एवं साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के शुभारंभ के इस काल का 'अभ्युदय काल' कहना ज्यादा तर्क सम्मत लगता है।

6. आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ :-

प्रवृत्ति यानी भावाबोध या विषयवस्तु है। साहित्य के क्षेत्र में प्रवृत्त का अर्थ साहित्य की विषय वस्तु या साहित्य के द्वारा होने वाला भाव बोध होता है। साहित्य जीवन सापेक्ष होता है। साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति ही होती है। अत: साहित्य में प्रवृत्ति उस में व्यक्त जीवन पर आधृत होती है। साहित्य में प्रतिबिंबित जीवन या उस पर आधारित वस्तु साहित्यिक प्रवृत्ति को नियमन करती है। आचार्य शुक्ल जी ने इसी ओर संकेत किया है। शुक्लजी के अनुसार साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब है। इस दृष्टि से जनता कि चित्तवृत्ति या जन जीवन ही साहित्य की प्रवृत्ति को नियमन करता है। साहित्यिक प्रवृत्ति निर्धारण करता है।

आचार्य शुक्लजी ने वीरगाथाकाल के जन जीवन और उस के आलोक में रचित साहित्य की समीक्षा करते हुए लिखा है – 'आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति या निश्चय नहीं होता है – धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ रासों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोकप्रवृत्ति के उपरांत जब मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारंभ होता है। तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, श्रृंगार आदि के फुटकल दोहे राज सभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रम चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यहाँ प्रबंध परंपरा 'रासो' के नाम से पाई जाती है। जिसे उपय करके इस काल को सब 'वीरगाथाकाल' कहा है।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, इक्कीसवां संस्करण, प्रबल) शुक्लजी के इस काव्य से एक बात स्पष्ट होती है कि उनका सारांश पूरे युग का प्रतिनिधित्व करने वाली किसी प्रवृत्ति की ओर था। जिसे उन्होंने 'वीरगाथा' के रूप में 'वीरगाथा काल' कहा है। अर्थात् शुक्लजी की दृष्टि से वीरगाथा काल की प्रमुख प्रवृत्ति वीरगाथा कथन है। 'वीरगाथा' प्रवृत्ति को अधीन रचे गये काव्यों को ही 'रासो' काव्य कहा जाता है। इन रासो काव्यों में वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार रस का भी भरपूर प्रयोग हुआ है।

आदिकाल के अंतर्गत कवि संदिग्ध अपभ्रंश रचनाओं का उल्लेख किया जाता है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से तृतीय प्राकृत काल (सन् 500-1000) की भाषाओं को अपभ्रंश भाषाएँ कहा जाता है। अपभ्रंश भाषाओं में मुख्य तथा जैन-बौद्धधर्म का साहित्य और अल्प मात्रा में लौकिक साहित्य मिलता है। अत: अपभ्रंश भाषाओं में लिखे गये साहित्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं। 1. धार्मिक साहित्य और 2. लौकिक साहित्य। यो दोनों साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश काल के बाद भी हिन्दी

को बिरासत में प्राप्त हुई। संदिग्ध अपभ्रंश साहित्य के अलावा सिद्ध और नाथ साहित्य के रूप में धार्मिक साहित्यिक प्रवृत्ति अक्षुण्ण प्रवाहित होती रही। लौकिक साहित्यिक प्रवृत्ति के अंतर्गत राजा के चरित्रों से संबंधित, वीर-श्रृंगार प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है जिन्हें शुक्लजी ने 'वीरगाथा काव्य' कहा। इन के अतिरिक्त फुटकर रूप में आदिकाल में मनोरंजक साहित्य उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से आदिकाल की चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ यथा 1.धार्मिक 2.अपभ्रंश 3. वीरगाथा 4. मनोरंजक और उन पर आधृत साहित्य लिखा गया। जिनको 1.नाथ और सिद्ध साहित्य 2. अपभ्रंश साहित्य 3. वीरगाथा साहित्य 4. मनोरंजक साहित्य नामों से पुकारा जा सकता है।

6.1. नाथ और सिद्ध साहित्य :-

संस्कृत साहित्य के समानांतर भारत में ईसा की आरंभिक शताब्दियों में प्राकृत भाषाओं के साथ-साथ अपभ्रंश भाषाओं में भी समृद्ध साहित्य रचा गया है। आज उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य की मूल प्रवृत्ति धार्मिक है। विशेषकर उस में जैन तथा बौद्ध धर्म संबंधी महापुरुष, तीर्थंकरों की जीवनियाँ तथा जैनों के पुराण ही ज्यादा हैं। अपभ्रंश के अंतिम दौरे में भाषाई परिवर्तन के साथ-साथ धार्मिक चेतना में भी परिवर्तन हुए। बौद्धधर्म से संबंधित सिद्धों की अलग शाखा का विकास हुआ तथा सिद्धों के साहित्य में अपभ्रंश भाषा तथा साहित्य के प्रति बडा विरोध इसी दौरान दिखाई देता है। यदी विरोध एक अलग साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में उभर कर आया है। आगे सिद्धों का समानांतर एक और शाखा नाथपंथी शाखा का जन्म भी हुआ। इस प्रकार अपभ्रंश के अंतिम दौर में सिद्ध-नाथ साहित्य एक नयी भाषाई चेतना के साथ उभरा। इस का रूप पूर्वकालीन अपभ्रंश और उसके साहित्य से बिल्कुल अलग है। आगे सिद्ध-नाथ की यदी धार्मिक साहित्यिक प्रवृत्ति ने भक्ति काल की साहित्यिक प्रवृत्ति को जन्म दिया है।

6.1.1. सिद्ध साहित्य :-

सिद्ध बौद्ध धर्म की वज्रयान (महायान) शाखा से संबद्ध जन कवि हैं। सिद्ध शब्द अर्थ है साधना में निष्णात, अलौकिक एवं चमत्कारिक शक्तियों से सम्पन्न प्रभाव। ये सिद्ध पुरुष संख्या में चौरासी माने जाते हैं। आचार्य शुक्लजी ने अपने इतिहास में इन सबके नाम दिए हैं। गुप्त वंशी राजाओं के पतन के बाद बौद्धधर्म हीनयान और महायान नामों से दो शाखाओं में विभक्त हो गया। अपनी उदारवादी दृष्टि के अनुरूप महायान शाखा ने अन्यधर्मों के आचार-व्यवहार को अपनाया। आचार्य नागार्जुन का शून्यवाद भी इसी शाखा का माना जाता है। इसके बाद भी महायानी शाखा के दर्शन में

अनेक परिवर्तन होते रहे। आदिशंकराचार्य के अद्वैतवाद से बचने तथा जन सामान्य में अपने अस्तित्व को बचाकर रखने के लिए इस में योग के साथ-साथ तंत्र-मंत्र - जप आदि सिद्धियों को ग्रहण किया गया। यहाँ तक कि वैदिकधर्म की अवतारवादी कल्पना को भी स्वीकार कर लिया गया। धीरे-धीरे इस में साधना पक्ष का विकास हुआ है। साधना में पंच मकारों (मद्य,मांस, मैथुन, मत्स्य और मुद्रा) महत्व बढ गया। जन सामान्य में इसका बुरा असर हुआ। साधना का मतलब सुरा और सुंदरी समझा जानेलगा। धर्म में नैतिकता का ह्रास शुरु हो गया था।

सिद्धों का लीला स्थल मुख्यतया बंगाल, बिहार, तिब्बत, नेपाल के साथ भारत के उत्तरी पूर्वी प्रदेश रहा है। चौरासी सिद्धों के द्वारा रचित सिद्ध साहित्य में इसलिए अर्धमागधी अपभ्रंश का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इन सिद्धों का परिचय देते हुए शुक्लजी ने लिखा है - ''बौद्धधर्म विकृत हो कर वज्रयान अपभ्रंश के रूप में देश के पूरबी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुंचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैल थे और सिद्ध कहलाते थे। चौरासी सिद्ध इन्हीं में हुए हैं। जिनका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ : 6)

सिद्धों के तंत्र, मत्र और पंचमकार आदि के कारण समाज में अवश्य अधर्म या अनैतिकता का समर्थन हो रहा था। परन्तु दूसरी ओर इन की सामाजिक विचारधारा के कारण तत्कालीन समाज पर ज्यादा प्रभाव भी हुआ था। उनकी सब से बड़ी उपलब्धि था कि उन्होंने समाज में व्याप्त जातिवाद और ऊँच नीच के भेदभाव का बड़ा विरोध किया था। सिद्धों की यही विचारधारा आगे चलकर कबीर की वाणी में मुखरित हुई। रूढ़ि विरोध, योगसाधना, अक्कड़पन आदि इन की अन्य विशेषताएं थीं। सिद्धों के महत्व को स्पष्ट करते हुए डॉ.रामकुमार वर्मा ने लिखा है - ''सिद्ध साहित्य का महत्व इस बात में अधिक है कि उस से हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। चारणकालीन साहित्य तत्कालीन राजनैतिक जीवन की प्रतिच्छाया मात्र है। यह सिद्ध साहित्य शताब्दियों से आनेवाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख हैं।''

आचार्य शुक्लजी चौरासी सिद्धों में 'सरहपा' को सब से पुराने मानते हैं। ''सिद्धों में सरहपा सब से पुराने अर्थात् 769 ई. के हैं। अत: हिन्दी काव्य भाषा के पुराने रूप का पता हमें आठवीं शताब्दी ई. के अंतिम चरण में लगता है'' उनकी भाषा के (हिन्दी के प्राचीन तम रूप का) एक नमूना यहाँ प्रस्तुत करना उचित होगा -

जदि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नादिं पवेश।
तदि बट चित्र बिसाम करु, सरे हे कदिझ उतेश॥
बोर अंधारे चंद मणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम मदामुह एरवु कणे दुरिझ अशेव दरेइ॥

चौरासी सिद्धों के नामों के अंत में आदरार्थक पा जोड़ा जाता है। इनकी एक और विशेषता यह है कि ये समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों से संबंध रखते हैं। इनमें अनेक डोम, कहार, मछुए, चमार, धोबी, लक्कड़हारे, दरजी और बहुत से शूद्र जाति के लोग हैं। इस कारण भी उनकी भाषा तथा साहित्यिक प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की हो गयी। जो पूर्व परंपरा हटकर बिलकुल नयी हो गयी। आचार्य शुक्लजी इनके साहित्य की मूल धुरी व लक्ष्य धार्मिक उपदेश या प्रचार सिद्ध करते हुए उसे असाहित्यिक मानते हैं। जो भाषा एवं साहित्यिक प्रवृत्ति की दृष्टि से उचित नहीं लगता है। शुक्लजी ने लिखा है - ''उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सारणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र है। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकती।'' उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्र.815) शुक्लजी का यह विचार इसलिए सभी चीन नहीं लगता है कि सिद्धों की यह धार्मिक प्रवृत्ति आगे के बारे आदि संत कवियों के द्वारा भक्तिकाल में और पुष्पित होती दिखाई पड़ती है। इस रूप में सिद्धसाहित्य हिन्दी के प्राचीनतम साहित्य का ठोरु आधार खड़ा करने में सक्षम माना जा सकता है।

सिद्धों का दार्शनिक पक्ष एवं उसकी विशेषताओं के बारे में डॉ.शिवकुमार शर्मा ने निम्नांकित 11 प्रमुख मुद्धों का उल्लेख किया है।

1. प्रत्येक तांत्रिक संप्रदाय में देवता, मंत्र और तत्व दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली भिन्न-भिन्न है, किन्तु साधना पद्धति सब की समान है।
2. प्रत्येक संप्रदाय में शास्त्रीय चिंतन पक्ष गौण था। साधना क्रिया और चर्यापदों की प्रमुखता थी। साधना पक्ष में गुरु को अत्यधिक महत्व प्रश्न किया गया। तांत्रिक साधना में शिव-शक्ति, लिंग अंग, प्रज्ञा-उपाय, रस-अभ्रक आदि की अद्वय स्थिति पर अत्यधिक बल दिया है।
3. तांत्रिक संप्रदायों की साधना पद्धति में शिव और शक्ति की युगनद्धता और उनकी मित्थुनात्मक व्याख्या मिलती है। प्रत्येक संप्रदाय की साधना में गुह्याचारों पर अत्यधिक बल दिया गया है।

4. तांत्रिक साधना में जाति-पांति और वर्ण भेद आदि की भरसक निंदा की गई है।
5. इन संप्रदायों में योग साधना पर अत्यधिक बल दिया गया है। तांत्रिक साधना के लिए शरीर-शुद्धि प्रथम आवश्यक उपलब्ध है। ब्रह्मांड में जो शिव और शक्ति है वही सदाचार और कुंडलिनी है। उनकी अद्वयता के लिए योग-साधना अनिवार्य है।
6. मित्थुनात्मकता साधना का निरूपण पद्धति सर्वथा सांकेतिक है।
7. प्रत्येक संप्रदाय में वैदिक देवताओं के प्रति अनास्था प्रकट की गयी है और अनेक स्थान पर लोक देवताओं और उनकी असंस्कृत पूजन पद्धतियों का प्रश्रय दिया गया है।
8. सब संप्रदायों ने ब्राह्मणवाद की पौराणिक रूढियों का खंडन और वेदों के प्रति असम्मान दर्शाया है।
9. तांत्रिक साधना में मरणोपरांत मुक्ति या निर्वाण प्राप्ति की अपेक्षा जीवनकाल में सिद्धियों को प्राप्त करना श्रेयस्कार बताया गया है।
10. चमत्कार प्रदर्शन सभी संप्रदायों में समान रूप से मिलता है। मंत्र-यंत्र और बीजाक्षरों का प्रचलन रूप संप्रदायों में समान रूप से हुआ। सब संप्रदायों में गुह्य साधना के ब्याज से कामशास्त्रीय विधियों का समावेश परोक्ष रूप से हुआ है।
11. तांत्रिक काल में उद्भूत वैष्णवों के पांचरात संप्रदाय में उपासना के चार अंग स्वीकार किए गए हैं - ज्ञान पद, योग पद, क्रिया पद और चर्यापद। (हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, प्र: 37-38)

6.1.2. नाथ साहित्य :-

नाथ साहित्य का प्रवर्तक गोरखनाथ है। इसका लीला स्थल पंजाब और उससे लगा हुआ पश्चिम भारत है। नाथों की संख्या नौ बतायी जाती है। वे नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, साथनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन है। नाथ भी बौद्धों की वज्रयानी शाखा से ही संबंध रखते हैं। वैसे गोरखनाथ को चौरासी सिद्धों में भी गिना जाता है। इन्होंने ही वज्रयानी शाखा से अपना अलग पंथ बना लिया था। इन्होंने वामाचार की जगह योग साधना को महत्व दिया। इन्होंने पतंजली के उच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया। इस पंथ में कर्मकांड, मूर्तिपूजा आदि का विरोध होने से मुसलमान भी इस की तरफ आकर्षित हुए। इन्होंने ईश्वर प्राप्ति के लिए

बाह्यविधावों, वेदशास्त्रों का अध्ययन, विद्वानों की सेवा तीर्थाटनों आदि को आवश्यक नहीं माना। घर के अंदर ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया।

गोरख पंथ की पुस्तकें गद्य और पद्य दोनों में हैं। उपलब्ध पुस्तकों में जो संवत् 1400 से आस पास की है, गोरखगणेश गोष्ठी, महादेव-गोरख संवाद, गोरख नाथ जी की सत्रह कलाएं, गोरख बोध उल्लेखनीय हैं। राहुल सांकृत्यायन ने गोरखनाथ का समय 845 ई. माना है। जब कि हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 9 वीं शती का आचार्य शुक्लजी तथा डॉ.रामकुमार वर्मा जी ने 13 वीं शती का माना है। डॉ.पीतंबरदत्त बड़थ्वाल ने 11 वीं शती का माना है। परन्तु अत्याधुनिक अनुसंधानों के अध्ययन से जब यह स्थापित हो चुका है कि गोरखनाथ की रचनाएं ईसा की तेरहवीं शती के आरंभ में लिखी गयी हैं। डॉ.बड़थ्वालजी के द्वारा संग्रहित 'गोरखबानी' की भाषा का भी सुधरी एवं तात्विक दृष्टि से हिन्दी के काफी नजदीक है। एक नमूना द्रष्टव्य है -

नौलख पातरि आगे नालैं, पीछे सहज अखाड़ा।

ऐसे मन लै जोगी खेलै॥ तब अंतरि बसै भंडारा॥

गोरखनाथ की भाषा भाव और छंद आदि ने भक्ति काल के संत साहित्य को अधिक प्रभावित किया। इस रूप में नाथ साहित्य भी प्राचीन हिन्दी भाषा तथा साहित्य को पुष्ट बनाता है। परन्तु शुक्लजी ने नाथ साहित्य को भी सिद्ध साहित्य की तरह धार्मिक शिक्षा प्रधान मानते हुए इसे असाहित्यिक घोषित किया है। आचार्य शुक्लजी ने लिखा है - ''सिद्धों और योगियों का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएं तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाडियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र है, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनको कोई संबंध नहीं। अत: वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आती। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ : 14)

नाथों की मुख्य विशेषता योग साधना की ओर उन्मुखता है। इसके अतिरिक्त नाथ संप्रदाय में तत्कालीन विभिन्न मतों का सम्मिश्रण भी देखा जाता है। विशेष कर बौद्ध, सिद्ध, शैव, योगमार्ग आदि का समन्वय रूप नाथ संप्रदाय में देखा जाता है। वैष्णव साधना प्रणाली और कापालिक साधना-पद्धति का सुंदर समावेश भी नाथ संप्रदाय में देखा जा सकता है। मूलत: नाथ दर्शन शैव दर्शन पर अवलंबित है। नाथ संप्रदाय में 'शिव' को विश्व का निर्विकार तत्व माना जाता है। शिव की मनोकामना का रूप

'शक्ति' माना जाता है। दृष्टि रचना के समय शिव और शक्ति एकाकार हो जाते हैं। नाथ संप्रदाय का यह मत है कि शिव और शक्ति प्रत्येक कण में व्याप्त हैं। वे कुंडलिनी के रूप में प्रत्येक मनुष्य में स्थित हैं। उनकी पहचान और अनुभव इच्छा क्रिया और योगज्ञान के द्वारा ही संभव है।

सिद्ध और नाथ साहित्य के संदर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि उन की भाषा शुद्ध साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न भाषा है। परंपरा से कही हुई इस भाषा को अपभ्रंश कहना तथा इस में लिखी गयी रचनाओं को अपभ्रंश के अंतर्गत गिनती करना समीचीन नहीं लगता है। साथ ही सिद्ध और नाथ की साहित्यिक प्रवृत्ति भी अपने पूर्व युग से नितांत भिन्न कोटि की है। अत: सिद्ध और नाथ साहित्य से ही हिन्दी साहित्य का आरंभ मानना अत्यंत उचित लगता है। इस में कोई शक नहीं है कि सिद्धों की भाषा में पूर्वीपन है तो नाथों की भाषा में पश्चिमीपन है। इस संदर्भ में डॉ.रामकुमार वर्मा के ये विचार उल्लेखनीय हैं - ''सातवीं शताब्दी से ही हम सिद्धों की रचनाओं को अपनी भाषा के प्रारंभिक रूप में पाते हैं। इन रचनाओं के वर्ण्य विषय हठयोग, मंत्र, मद्य और स्त्री है, जो वज्रयान के मुख्य रूप हैं। भाषा अपभ्रंश मिश्रित हैं। जिस में सिद्धांतों के मिश्रण के कारण काव्योत्कर्ष हो नहीं सकता।'' (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - पृ : 28) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने तत्सम शब्दों की प्राचुर्यता को अपभ्रंश से हिन्दी को अलग करने का मूल आधार बताया है। उनके अनुसार सिद्ध नाथ साहित्य में पवन, रवि, चिति, शशि आदि शब्द देखे जा सकते हैं।

6.2. अपभ्रंश साहित्य :-

अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य के साथ घनिष्ठ संबंध है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ही हिन्दी का विकास हुआ है। मध्ययुगीन आर्यभाषा काल में ई. 5 सदी से 10 वीं सदी तक के समय अपभ्रंश काल माना जाता है। साहित्य के स्तर पर अपभ्रंश भाषा का प्रयोग ई. 10वीं. सदी के बाद भी होता रहा। एक ऐसी भाषाई स्थिति भी देखी जाती है पूर्ण रूप से न शुद्ध अपभ्रंश रूप है न अपभ्रंशेतर रूप। भाषा के इस रूप को कुछ विद्वानों ने पुरानी हिन्दी और अवहट्ठ नाम दिया अपभ्रंश में दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। 1.धार्मिक साहित्य 2. लौकिक साहित्य। अपभ्रंश में धार्मिक साहित्य ही प्रधान रूप से उपलब्ध होता है। विशेषकर जैन और बौद्ध धर्म से संबद्ध साहित्य उपलब्ध होता है। विशेषकर जैन और बौद्धधर्म से संबद्ध साहित्य उपलब्ध होता है। अपभ्रंश के इसी धार्मिक साहित्य हिन्दी के बीजांकुर तथा हिन्दी का साहित्य शुरू होता है। इस में महाकाव्यों, खंडकाव्यों, गीतिकाव्यों, लौकिक प्रेमकाव्यों आदि बडी माला में उपलब्ध होते हैं। इसकी हिन्दी साहित्य पर अनेक स्तरों एवं रूपों में प्रभाव स्पष्ट रेखांकित किया जा सकता है। इसी आशय से आदिकालीन हिन्दी साहित्य के अंतर्गत इस

महत्वपूर्ण कड़ी अपभ्रंश साहित्य का विवेचन किया जाता है।

आचार्य रामचंद्रशुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में अपभ्रंश साहित्य को समुचित महत्व दिया है। उन्होंने आदिकालीन साहित्य को अपभ्रंश काव्य और देश भाषा काव्य नामक दो प्रकरणों में विभाजन करके उनका परिचय दिया है। शुक्लजी ने फिर अपभ्रंश काव्य के अंतर्गत सिद्ध, नाथ तथा जैन साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। हिन्दी के अधिकांश साहित्येतिहास लेखक सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य को मिलाकर अपभ्रंश साहित्य मानते हैं। इन तीनों का परिचय आदिकालीन हिन्दी साहित्य पूर्व पीठिका के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी को तथा हिन्दी साहित्य को बनाने में अपभ्रंश की इन तीनों काव्यधाराओं का बडा योगदान रहा हैं। प्रसिद्ध आलोचक डॉ.नामवरसिंह ने हिन्दी और अपभ्रंश साहित्य के संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है – ''भावधारा के विषय में अपभ्रंश से हिन्दी का जहाँ केवल ऐतिहासिक संबंध है। वहाँ काव्य रूपों और छंदों के क्षेत्र में उस पर अपभ्रंश की गहरी छाप है। रूप-विधान विषय वस्तु की अपेक्षा धीरे-धीरे बदलती है और इस विषय में रूढियों का पालन अधिक दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि हिन्दी के अपभ्रंश की काव्य संबंधी अनेक परिपाटियों का ज्यों का त्यों और कुछ का थोड़ा सुधार कर स्वीकार कर लिया। इस तरह हिन्दी ने अपभ्रंश को जीवंत परंपरा का भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में ऐतिहासिक विकास किया।'' अपभंश में सिद्ध, नाथ जैन साहित्य के अतिरिक्त संदेश रासक, कीर्तिलता, और 'कीर्ति पताका' नामक ग्रंथों का प्रणय भी हुआ है। सिद्ध और नाथ साहित्य का परिचय पहले दिया जा चुका है। जैन तथा जैनेतर अपभ्रंश साहित्य का परिचय निम्नांकित है।

6.2.1 जैन साहित्य :-

हिन्दी के आदिकाल में दो प्रकार की जैन धर्म संबंधी रचनाएं लिखी गयीं। पहले प्रकार की रचनाएँ शुद्ध साहित्यिक अपभ्रंश में लिखी गयी हैं। जैसे स्वयंभू (8 वीं सदी ई.-पउमचरिउरिट्ठनेमि चरिउ आदि) पुष्पदांत (10वीं सदी ई.-जरूदर चरिउ, महापुराण) धनपाल (भविसयत्त कहा) आदि इन का हिन्दी के साथख संबंध मात्र शिल्प और वर्ण्यविष्य के साथ ही रहा। दूसरे प्रकार की रचनाएँ अपभ्रंश कालीन जन भाषा में लिखी गयी हैं। जो पुरानी हिन्दी की रचनाएँ मानी जाती हैं। डॉ.लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने हेमचंद्र, सोमप्रभसूरि, मेरुतुंग, शारगंधर आदि दिगंबर जैन कवियों की रचनाओं को इस प्रकार की रचनाओं के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य शुक्लजी ने भी अपभ्रंश काव्य के अंतर्गत हेमचंद्र, सोमप्रभसूरि, जैनाचार्य मेरुतुंग, विद्याधर, शारगंधर की रचनाओं का उल्लेख किया है। वास्तव में आदिकालीन हिन्दी साहित्य के अंतर्गत इन्हीं रचनाओं का विवेचन किया जाता है।

जैन धर्म बौद्धधर्म के समानांतर विकसित धर्म है। फैलाव व प्रचार-प्रसार की दृष्टि से जैन धर्म बौद्धधर्म की तुलना में कम विकसित माना जाता है। जैन धर्म मुख्यतया भारत के पश्चिमी भागों में - गुजरात और राजस्थान तथा दक्षिण भाग में आंध्रप्रदेश और कर्नाटक में फैला था। विवेच्यकाल में समृद्ध जैन साहित्य रचा गया है। खासकर जैन साहित्य जैन दर्शन के निरूपण की शिक्षा में रचा गया है। जैन कवियों ने अर्धमागधी प्राकृत भाषाओं एवं अपभ्रंश भाषाओं को अपने साहित्य-सृजन के लिए अधिक मात्रा में उपयोग किया है। इन दोनों भाषा रूपों के अतिरिक्त पुरानी हिन्दी तथा अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी (इस समय की जन भाषा) में भी जैन साहित्य लिखा गया। साहित्येतिहासकार ऐसी रचनाओं को ही आदिकालीन हिन्दी साहित्य के अंतर्गत मानते हैं। हिन्दी रचनाएँ मानी जा सकनेवाली ऐसी रचनाएं संख्या में कम ही है।

6.2.1.1. स्वयंभू :-

स्वयंभू, पुष्पदंत जैसे महाकवि जैन साहित्य में हुए। स्वयंभू का 'पउमचरिउ' (पद्यचरित), 'अट्ठनेमी चरित्र' (हरिवंशपुराण) प्रसिद्ध रचनाएँ प्राप्त होती हैं। स्वयंभू को अपभ्रंश का वाल्मीकी माना जाता है। दो रचनाएँ पुराण शैली में लिखी गयी रचनाएँ है। परमचरित्र में जैन दर्शन की दृष्टि से संपूर्ण राम कथा कही गयी है। स्वयंभू के बारे में डॉ.नामवर सिंह ने लिखा है - 'स्वयंभू के काव्य का परिसर बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक, रानिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जलक्रीडा से लेकर युद्धभेत्र तक, जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्रकार हैं। भावों के जानकार हैं, चिंतन के आगार हैं। अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर दिखाई नहीं पड़ा अलंकृत भाषा तो बहुतों ने लिखी, किंतु, ऐसी प्रवाहमयी और लोकप्रचलित अपभ्रंश भाषा फिर नहीं लिखी गयी। स्वयंभू सचमुच ही अपभ्रंश के वाल्मिकी हैं। परवती अपभ्रंश कवियों ने उन्हें वैसे ही श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।'

6.2.1.2. पुष्पदंत :-

स्वयंभू के बाद उल्लेखनीय जैन कवि पुष्पदंत हैं। उनकी 'महापुराण' रचना आद्यंत प्रचलित है। इसमें जैन तीर्थांकरों रामायण और महाभारत कथाओं का वर्णन है। पुष्पदंत भी स्वयंभू की तरह पुराणशैली को ही अपनाया है। इन को अपभ्रंश का व्यास कहा जाता है। पुष्पदंत ने ब्राह्मण वाद का बड़ा विरोध किया है। जैन कवियों ने कुछ लौकिक साहित्य भी लिखा है। इस दृष्टि से धन पाल की 'भविष्यत कथा' धर्म सूरि की 'जंबुस्वामी रासो' आदि उल्लेखनीय है। परन्तु स्वयंभू से लेकर धर्मसूरि तक लिखे गये साहित्य को मुख्यतया अपभ्रंश साहित्य ही माना जाता है। न कि हिन्दी साहित्य आदिकालीन हिन्दी साहित्य ने इन से वर्ण्य वस्तु और शिल्प मात्र को ही ग्रहण किया है।

आचार्य शुक्लजी ने हेमचंद्र को पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी में लिखनेवाले जैन कवि माना है। शुक्लजी के अनुसार हेमचंद्र गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (सन् 1093-1142) और उनके भतीजे कुमार पाल (सन् 1142-1173) के यहाँ रहा करते थे। हेमचन्द्र की 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' नाम से एक व्याकरणिक रचना मिलती है। जिस में प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। इस के साथ-साथ इसमें कुमार पाल का आठ सर्गों में जीवन चरित्र वर्णित है। 'सोम प्रभसूरि' पुरानी हिन्दी में लिखने वाले एक और विशिष्ट कवि हैं। इनकी रचना का नाम 'कुमारपाल प्रतिबोध' है। इस में पांच प्रस्ताव हैं। विशेषकर संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का उपयोग किया है। बीच-बीच में अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के उदाहरण भी मिल जाते हैं। इन के बारे में डॉ.रामकुमार वर्मा ने लिखा है-'जहाँ वे कुमारपाल का कर्त्तव्य और इतिहास वर्णन करते हैं वहाँ तो वे अपभ्रंश का प्रयोग नहीं करते, किन्तु जहाँ कथाओं को रोचक बनाने की आवश्यकता पड़ती है। वहां वे जन साधारण में प्रचलित अपभ्रंश में लिखे गए अज्ञात कवियों के दोहे रख देते हैं। जिन में उक्तियों वियोग वर्णन, ऋतु-वर्णन और कहावते हैं।'

6.2.1.3. मेरुतुंग :-

मेरुतुंग (सन् 1304) की 'प्रबंध चिंतामणी' पुरानी हिन्दी की ही मानी जाती है। इस में अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और राजाओं का वर्णन है। इस में मुख्य तथा सिद्धराज, जयसिंह, कुमार पाल, हेमचंद, वस्तुपाल, तेजपाल आदि के वृत्त हैं। आचार्य शुक्लजी ने 'वद्याधर' को भी पुरानी हिन्दी के कवि के रूप में स्वीकार किया है। 'प्राकृत पिंगल सूत' में उधृत कुछ पद्यों का उन्होंने उदाहरण के रूप में दिया है। 'शारंगधर' पुरानी हिन्दी के एक और कवि है। उनकी एक विवदास्पद रचना 'हम्मीररासो' मिलती है। इस प्रकार अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी या पुरानी हिन्दी के अनेक कवियों और उनकी रचनाओं का पता चलता है। इन में से अधिकांश ने जैन दर्शन के अधार पर धार्मिक साहित्य लिखा है। कुछ ने लौकिक साहित्य या चरित्र काव्य रचनाएँ लिखी हैं। आदिकालीन हिन्दी में जैन साहित्य की भूमिका को स्पष्ट करते हुए डॉ.रामकुमार वर्मा ने लिखा है ''वास्तव में हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति और विकास में जैनधर्म का बहुत बडा हाथ रहा है। अपभ्रंश में ही जैनियों के मूल सिद्धान्तों की रचना हुई। अपभ्रंश का विकास हिन्दी में होने के कारण हिन्दी की प्रथमावस्था में भी इन सिद्धान्तों पर रचनाएं हुई। अतएव भाषा विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, वरन् हिन्दी के प्रारंभिक रूप का सूत्रपात करने में भी जैन साहित्य का महत्व है।''

6.2.2.1. जैनेतर अपभ्रंश साहित्य :-

1. संदेश रासक :-

अपभ्रंश में जैनधर्म के अतिरिक्त लौकिक जीवन से संबद्द साहित्य भी लिखा गया है। इस दृष्टि से अर्ब्दुरहमान का 'संदेश रासक' विशेष उल्लेखनीय है । यह एक खंडकाव्य है । कवि मुलतान के निवास थे तथा संस्कृत और प्राकृत के अच्छे पंडित थे। इसके रचनाकाल के संदर्भ में मतभेद है । अधिकांश विद्वान इसे 11वीं सदी ई० की रचना मानते हैं । संदेश रासक की वस्तु लोकजीवन से गृहीत है । यह कालिदास के 'मेघदूत' काव्य को याद दिलाता है । इसमें एक विरहिणी प्रेमिका की कथा वर्णित है । वह अपने प्रेमी के पास एक यादगार के द्वारा संदेश भेजने की कोशिश करती है । इस बहाने कवि ने प्रेमिका के विरह की भावनाओं का सुंदर वर्णन किया है। संदेश भी बहुत मार्मिक ढंग से विश्लेषित है । संदेश में प्रेमिका की गहरी रसि, मुसरर्प, प्रेम की अधीनता, उपालंभ एवं आत्म समर्पण सभी भावों का समावेश मिलता है । पूरा खंडकाव्य तीन प्रक्रमों मे विभक्त है । रचना में कुल 223 छंद है । प्रकरण प्रम में मंगलाचरण कवि का व्यक्तिगत परिचय, जिसमें कवि ने अपने को अल्प मानते हुए भी अपने महत्व का उल्लेख किया है, काव्य का लक्ष्य आदि वर्णित है । दूसरे प्रकरण से ही कथा प्रसंग शुरू होता है । प्रसंग तो बहुत छोटा है । विजयनगर की एक प्रोषित पति का अपने प्रिय के वियोग में रोती हुई एक दिन राजमार्ग से जाते एक राहगीर को देखती है । वह दौड़कर उसे रोकती है । राहगीर से उसे पता चलता है कि वह सामोर से आ रहा है और स्तंभतीर्थ को जा रहा है । यह सुनकर उसे बहुत अच्छा लगता है । वह राहगार से निवेदन करती है कि उसका प्रिय भी उसे छोड़कर स्तंभतीर्थ गया हुआ है । इसलिए कृपा करके मेरा संदेश लेते जाओ। राहगीर को संदेश देकर प्रेमिका ज्यों ही विदा करती है कि दक्षिण दिशा में उसका प्रिय आता दिखाई पडता है । काव्य के समाप्त करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार उसका कार्य अचानक सिद्ध हो गया है उसी प्रकार काव्य को पढ़ने-सुनने वालों का भी सिद्ध हो । स्पष्ट है कि इसमें प्रसंग-कथा-सूत्र का महत्त्व नहीं बल्कि संदेश के माध्यम से व्यक्त प्रेमिका के विरह-वर्णन का महत्त्व है ।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने इस काव्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है- ''इस संदेश रासक में ऐसी करुणा है जो पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है। उपमायें अधिकांश में यद्यपि परंपरागत हैं और रूढ ही है तथापि बाह्य वृत्त की वैसी व्यंजना उसमें नहीं है जैसी आंतरिक अनुभूति की । ऋतुवर्णन प्रसंग में बाह्य प्रकृति इस रूप में चित्रित नहीं हुई है। जिसमें आंतरिक अनुभूति की व्यंजना दब जाय। प्रिय के नगर से आनेवाले उपस्थिति पथिक के प्रति नायिका के चित्त में किसी प्रकार

के दु:ख का भाव नहीं है। वह बडे सहज ढंग से अपनी कहानी कह जाती है। सारा वातावरण विश्वास और घरेलुपन का है।''

इस में कोई संदेह नहीं है कि संदशरासक अपने ढंग का विशिष्ट विरह काव्य है। नायिका के रूप वर्णन में तथा उसके विरह में कवि ने बडी उदारता का परिचय दिया है। नगर वर्णन, प्रकृति वर्णन के रूप में ऋतुवर्णन भी किया है। अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी भाषा के प्रयोग से काव्य अत्यंत सरस बन पडा है। लोक जीवन से वस्तुग्रहण करके कठिन एक नया प्रयोग भी किया है।

6.2.2.2. कीर्तीलता और कीर्तिपताका :-

विद्यापति की 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' रचनाएँ भी संधिकालीन हिन्दी में लिखी गयी रचनाएं हैं। विद्यापति संधिकालीन कवि होने के कारण उनकी रचनाओं में प्राचीन और नवीन दोनों तत्वों का सुंदर समावेश देखा जा सकता है। विद्यापति की 'कीर्तिलता' में अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह की वीरता का यशोगावन है। कवि ने इतिहास का सहारा लेते हुए भी अपने आश्रयदाता के जीवन को काफी जीवंत बना दिया है। ऐतिहासिक घटनाओं को तोड़ मेरोड़न का प्रयास कवि ने नहीं किया। विद्यापति ने अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का आकलन काफी सहज ढंग से इस में किया है। कवि ने अपने आश्रय दाता और राजा को चरित्र नायक बनाने में बड़ी सूझ बूझ दिखाई है। काव्य में जहाँ कीर्तिसिंह का उज्ज्वल वीर रूप स्पष्ट है। वहाँ जौनपुर के सुल्तान जिरोजशाह के सामने उसका अति नम्र रूप भी प्रकट हुआ है।

'कीर्तिलता' संवाद शैली में लिखा गया काव्य है। कथा सूत्र भृंग और भृंगी के संवादों से शुरू होता है। काव्य में चार पल्लव है। कथा सूत्र इस प्रकार है। असलन नामक एक सुलतान ने तिरहुत के राजा गणेश्वर का छल से वध कर दिया। परिणाम स्वरूप मिथिला में सामाजिक और राजनीतिक स्थिति ऐसी बिगड़ी की अराजकता की सी स्थिति व्याप्त हो गई। कीर्तिसिंह अपने छोटे भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर के शासक इब्राहीम से सहायता मांगने चल पडे। इब्राहीम की सहायता से कीर्तिसिंह युद्ध में विजयी होते हैं। उन्होंने हारे हुए असलन को प्राणदान दिया। तिरहुत की गद्धी उन्हें पुन: प्राप्त हो गई। 'कीर्तिलता' की भाषा के बारे में डॉ.शिवकुमार शर्मा ने उचित ही लिखा है – ''भाषा के विकास की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्वपूर्ण बन पड़ा है। कीर्तिलता में परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से कुछ आगे बढी हुई भाषा के दर्शन होते हैं। विद्यापति ने इसे 'अवहट्ट' कहा है। इस में तत्कालीन मैथिली भाषा का सम्मिश्रण है। कीर्तिलता में गद्य में तत्सम शब्दों के व्यवहार की अधिकता है तथा पद्य में तद्‌भव

शब्दों का एकछत राज्य है। ये दोनों प्रवृत्तियां परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा में देखने को मिलती है। आदिकाल की प्रामाणिक रचनाओं में कीर्तिलता का महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यापति ने कीर्तिलता में अपने भाषा को देसिल बझना नाम दिया है।'' स्पष्ट है कि भाषा के स्वरूप कीर्तिलता शुद्ध अपभ्रंश की रचना नहीं है। बल्कि उस के आगे की भाषा में लिखी गयी रचना है। जिसे विद्यापति ने अवहट्ट नाम दिया। यह अवहट्ट अपभ्रंश और हिन्दी के बीच संधिकाल की भाषा मानी जाती है। जिसे पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी कहना उचित है। इस रूप विद्यापति की 'कीर्तिलता' का ऐतिहासिक महत्व है।

विद्यापति की 'कीर्तिपताका' रचना भी इसी प्रकार की है। यह काव्य रचना अपने पूरे रूप में उपलब्ध नहीं है। यह कीर्तिलता की तुलना में छोटी रचना है। डॉ.उमेशमिश्र के संपादन में इस का प्रकाशन हुआ है। यह भी अवहट्ट भाषा की रचना है जिस में शिवसिंह की कीर्तिपताका वर्णन किया गया है।

इस प्रकार अपभ्रंश मिश्रित पुरानी हिन्दी की जैनेतर रचनाओं में सदेशरासक, कीर्तिलता, कीर्तिपताका विशिष्ट स्थान के अधिकार हैं। ये तीनों की रचनाएँ आदिकालीन साहित्य का पूर्वपीठिका के रूप में व्यवहृत हुई हैं। आदिकालीन भाषा और साहित्य के सभी बीजांकुर इन में दिखाई पड़ते है। इसलिए सभी साहित्येतिहासकार इन रचनाओं का विवेचन आदिकाल के अंतर्गत करते आये हैं।

6.2.3.1. वीरगाथा साहित्य : (रासो काव्य)

वीरगाथा साहित्य आदिकाल की सर्वाधिक प्रचलित प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति की प्रधानता के आधार पर ही कई साहित्येतिहासकारों ने आदिकाल का नामकरण वीरगाथा काल के रूप में किया है। वीरों की कथाओं को 'वीरगाथा' कहा गया है। वीरगाथाओं की अधिकांश रचनाएं चरित काव्य शैली में लिखी गयी है। अधिकांश में कवियों ने अपने आश्रयदाता या राजाओं को चरित्र नायक बना दिया है। आश्रयदाताओं की प्रशस्ति का यशोगान इन वीरगाथा काव्यों में दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्लजी के अनुसार भाट या चारण कवि इन गाथाओं के लेखक हैं। ये किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु कन्या हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण अलाप करते या रजक्षेत्रों में जाकर वीरों की हृदय में उत्साह की उनमें भरते थे, वहीं सम्मान भी पाते थे। वीरगाथाओं में श्रृंगार रस की भी थोड़ा मिश्रण होता था। प्रधान रस वीर रस ही रहता था। श्रृंगार केवल सहायक के रूप में रहता था। जहां राजनीतिक कारणों से भी युद्धहोता था, वहां भी उनकारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री को ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी।

वीरगाथाकाव्यों की हिन्दी 'रासो' काव्य भी कहा जाता है 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के संदर्भ में मतभेद है। सर्वप्रथम हिन्दी का प्रथम साहित्येतिहासिकार गार्सा द तासी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से मानी है। उनका विचार है कि चारण काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख है और इसी कारण इनका नाम रासो पड़ा होगा। परन्तु बाद में इसका विरोध किया गया। कुछ विद्वानों ने इस का संबध 'रहस्य' शब्द से जोड़ने की कोशिश की। परन्तु यह तर्क सम्मत नहीं रहा। नरोत्तम स्वामी ने इस की व्युत्पत्ति 'रसिक' शब्द से बतायी है जैसे रसिक > रासउ > रासो। बाद में इसे भी अनुचित माना गया। आचार्य चंद्रवली पांडेय ने रासो शब्द का संबंध संस्कृत साहित्य के रासक से माना है। संस्कृत में रूपक अथवा उपासक के रूप में रासक माना जाता है। अर्थात नाटकीय काव्य। परन्तु हिन्दगी के सभी रासो काव्य नाटकीय काव्य नहीं है। प्रदर्शन या खेलने के लिए नदी लिखे गए हैं। कुछ विद्वानों ने रास, रसिया आदि शब्दों से 'रासो' को जोड़ने का प्रयास किया है। अपने प्रयासों में वे भी पूरी तरह सफल नहीं हुए। आचार्य शुक्ल जी ने 'रासो' शब्द का संबंध रसायन से जोड़ा है। जो बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शुक्लजी ने अपने मत के समर्थन में बीसल देव रासो की एक पंक्ति भी दी है – 'नाल्ह रसायन आरम्भई शारदा तूठी ब्रह्म कुमारि।'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' के संबंध में लिखा है – ''रासक एक छंद भी है और काव्य भेद भी। काव्य के इस बंध में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ करता था। पृथ्वीराज रासो उसी परंपरा का काव्य है। आदिकाल की वीरगाथाओं में चारण कवियों द्वारा निर्मित चरित्त काव्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।''

रास काव्य में रासक या रास छंद का प्रयोग होता था। अपभ्रंश में रासछंद एक विशिष्ठ मात्रावाला छंद था। यह छंद गेय छंद भी था। रास छंद वाले काव्य में बीच-बीच में एकररूपता को दूर करने दूसरे गेय छंदों का प्रयोग भी होता था। 'संदेश रासक' इस का एक अच्छा उदाहरण है। धीरे-धीरे 'रासक' काव्य गेय छंद वाला काव्य बन गया है। वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश में दो प्रकार के रासक काव्य मिलते है। नैनों के द्वारा लिखित धार्मिक रासक काव्य और लौकिक प्रेम को लेकर लिखे गये रासक काव्य। अगे इन्हीं के समानांतर प्रेमकथाओं के साथ-साथ वीरों की गाथाओं का सम्मिश्रण भी हुआ। जैसे पहले अंग्रेजी का 'सानेट' प्रेमभावों का काव्य था। किन्तु बाद में उस में अन्य भावों का भी वर्णन हुआ है। इस रूप में हिन्दी में वीरगाथा काव्यों के लिए प्रचलित 'रासो' शब्द का संबंध रास या रासक से जुड़ाता है। जो धीरे-धीरे धर्म, प्रेम-जैसे भावों से उतर कर वीरगाथाओं के लिए रूढ हो गया।

आचार्य शुक्लजी ने वीरगाथाओं के दो रूपों का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है – ''ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं – प्रबंध काव्य के साहित्यिक रूप में और वीरगीतों (बैलाड्स) के रूप में, साहित्यिक प्रबंध के रूप में जो सब से प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह पृथ्वीराज रासो। वीरगीत के रूप में हमें सब से पुरानी पुस्तक 'बीसलदेव रासो' मिलता है, यद्यपि उस में समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। जो रचना कई सौ वर्षों के लोगों में बराबर गाई जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'आल्हा' है जिसके गानेवाले प्रायः समस्त उत्तरी भारत में पाए जाते हैं।''

स्पष्ट है कि वीरगाथाओं को शुक्लजी ने गीति तत्व और कथा तत्व के आधार पर दो प्रकारों में बांट दिया है। पहले प्रकार की रचनाएं साहित्यिक या कथा प्रधान प्रबंधात्मक है। दूसरे प्रकार की रचनाएं गेय प्रधान गीतात्मक हैं। कुछ प्रमुख रासो काव्य और उनके रचइताओं का परिचय निम्नांकित है।

7. आदिकाल के प्रमुख कवि और उनके रासो काव्य

7.1. खुमान रासो : (कवि-दलपति विजय) :-

यह एक विवादास्पद रासो काव्य है। विद्वानों का विचार है कि मूल 'खुमान रासो' में समय पर प्रक्षेपण जोडे गए हैं। मूल काव्य का कवि 'दलपति विजय' माने जाते हैं। मूल काव्य का रचनाकाल 9वीं. सदी. ई. माना जाता है। इस में चित्तौड के द्वितीय खुमान नामक महाराणा का वर्णन है। प्रक्षेपण के कारण सत्रहवीं सदी के महाराणा राजसिंह तक का वर्णन इस रासो काव्य में मिलता हैं। यह पांच हजार छंदों का काव्य है। इस में युद्ध, विवाह आदि प्रसंगों के साथ-साथ प्रसंगानुसार नायिका। भेद, षट-ऋतु वर्णन आदि चित्रण भी है। आचार्य शुक्लजी ने इस काव्य में अभिव्यक्ति 'खुमान' के संदर्भ में संदेह प्रकट किया। इतिहास में प्रसिद्ध तीन 'खुमान' राजाओं का उन्होंने उल्लेख किया। खुमान रासो के संदर्भ में शुक्लजी के विचार उल्लेखनीय है – ''यह नहीं कहा जा सकता है कि इस समय में जो खुमान रासो मिलता है। इस में कितना अंश पुराना है। इस में महाराणा प्रताप सिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है वह उसे वि०संवत की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंह सरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक काव्य ग्रंथ लिखा था जिस में श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपति विजय असली खुमान रासो का रचइता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ठ का'' वैसे कुछ विद्वान रासो आदि रासो काव्य मानते हैं। यह काव्य राजस्थानी भाषा में लिखा गया है।

7.2. बीसलदेव रासोः (कवि-नरपति नाल्ह)

बीसलदेव रासो एक गेय रासो काव्य है। इसका रचना काल सन् 1155 ई. है। कवि नरपति नाल्ह है। इस काव्य में भोज परमार की पुत्री राजमती तथा अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव के तीसरे विवाह, वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा चित्रित है। कविने इसमें इतहास और कल्पना का सुदंर समन्वय किया है। वस्तुतः यह एक श्रृंगार रस प्रधान काव्य है। राजा बीसलदेव अपनी पत्नी राजमती से रूठकर राज्य से चले जाते हैं। राजमति पति के वियोग में तड़पती है। कवि ने यहाँ वियोग श्रृंगार का मार्मिक वर्णन किया है। अंत में राजमती एक पंडित के द्वारा राजा के पास संदेश भेजती है। बीसल देव पुनः राज्य में लौटकर आते हैं। इस अवसर पर कवि ने संयोग श्रृंगार का मनोहर चित्रण किया है। आचार्य शुक्लजी ने इसे विवादास्पत रचना के रूप में ही देखा है – ''यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है। राय बहादुर पंडित

गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है। (राजपुताने का इतिहास, भूमिका, पृ: 19) यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है जिस के आधार पर हम भाषा और साहित्य संबंधी कई तथ्यों पर पहुंचते हैं।''

7.3. पृथ्वीराज रासो : (कवि-चंदबरदाई) (सन् 1168-1192)

विवादास्पद प्रामाणिक रचना पृथ्वीराज रासो सर्वाधिक प्रचलित रचना है। इस में कोई मतभेद नहीं कि इसका कवि चंदबरदाई है। आचार्य शुक्लजी ने चंदबरदाई को हिन्दी का प्रथम कवि और पृथ्वीराज रासो को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है माना है। – ''ये हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है।'' शुक्लजी के अनुसार चंदबरदाई पृथ्वीराज चौहान के दरबार में रहा करते थे। वे पृथ्वीराजा के सखा और सामंत भी थे। दोनों का जन्म और मृत्यु एक ही दिन हुये। वे हमेशा पृथ्वीराज के साथ ही रहा करते थे। युद्ध में आखेट में, सभा में, याता में, सदा महाराज से साथ ही रहते थे। जीवन भर उन्होंने पृथ्वीराज की सेवा की थी। अंत: साक्ष्य के द्वारा शुक्लजी ने यह भी स्थापना की कि अधूरे 'रासो' को चंद के पुत्र जल्हण ने पूरा किया है। शुक्लजी ने एक पंक्ति उधृत की – ''पुस्तक जल्हन हाथ है चलि गज्जन नृप काज।''

पृथ्वीराज रासो 2500 पृष्ठों में 69 समयों में विभक्त महाकाव्य है। इसमें 12 वीं सदी ई. के प्रसिद्ध हिन्दी सम्राट पृथ्वीराज चौहान के बालकेलि, शौर्य-श्रृंगारा, युद्ध-प्रेम तथा जय – पराजय की कथा वर्णित है। पृथ्वीराज अजमेर के राजा सोमेश्वर के पुत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की कन्या कमला से हुआ था। अनंगपाल की एक और कन्या सुंदरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से हुआ था। और उसे जयचंद राठौर पैदा हुआ था। अनंगपाल ने अपने नाता पृथ्वीराज को गोद लिया। जयचंद को यह अच्छा नहीं लगा। तब से पृथ्वीराज के साथ शत्रुता शुरु हुई। इसकी बेटी संयोगित, पृथ्विराज को चाहती थी। फिर भी उस का विवाह पृथ्वीराज से होने नहीं दिया। पृथ्वीराज ने उसके साथ गांधर्व विवाह किया और उसे चुराकर ले गया। शाहबुद्धीन ने पृथ्वीराज के राज्य पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने उसे हराकर छोड़ दिया। परन्तु वह बार-बार आक्रमण करता रहा। एक बार पृथ्वीराज पकडा गया और गजनी भेज दिया गया। उसका मित्र चंदबरदाई उसे बचाने आया। एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्द बेधी बाण द्वारा शाहबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गए। यह 'रासो' का मुख्य कथासूत्र है। कविने चरित्र काव्य की संपूर्ण गरिमा को इस में खडा किया है। कवि ने अपने नायक के व्यक्तित्व को प्रेम और वीरता के ताने-बाने से ही नहीं बुना बल्कि उसे अद्भुत जीवन भी प्रदान किया। पृथ्वीराज हार मानना तो जानता ही नहीं।

उदारता तो उसमें इतनी है कि वह गोरी को कई बार हराकर छोड देता है। कवि एक ओर पृथ्वीराज का इंक्षिनी से हिन्दी, शरिव्रता से गांधर्व और संयोगिता से स्वयंवर विवाह कराता है तो दूसरी ओर अवरोध स्वरूप युद्ध की अद्‌भुत समायोजना। इस प्रकार की काव्योचित गरिमा मंडित पृथ्वीराज रासो प्रामाणिकता के विवाद में विवादास्पद हो या है।

अप्रामणिकता का मूल कारण 'रासो' के एकाधिक संस्करण प्राप्त होना है। रासो के अब तक चार संस्करण प्राप्त हुए हैं। प्रथम बृहत रूपवाली मूल प्रति उदयपुर के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है। नागरी प्रचारिणी सभाने इसी को प्रकाशित किया है। इस में 69 समय और 16306 छंद हैं। द्वितीय, मध्य रूप की चार प्रतियां उपलब्ध हैं। तृतीय लघुतर रूप में 3500 छंद हैं तथा चतुर्थ लघुतम रूप में मात्र 1300 छंद हैं। 'रासो' की प्रामाणिकता पर विचार करने वाले विद्वानों के मुख्य तीन वर्ग हैं। पहले वर्ग के विद्वान रासो को अप्रामाणिक मानते हैं। यहाँ तक कि इसका कवि चंद और वह पृथ्वीराज समकालीन भी नहीं मानते हैं। इस वर्ग के अंतर्गत गौरीशंकर हीराचंद ओझा, कविराज श्यामल दास, कविराज मुरारी दास, डॉ.वूलर, मुंशी देवी प्रसाद, डॉ.रामकुमार वर्मा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल । इन्होंने अपने इस मत के समर्थन में घटना वैषम्य, काल वष्म्य तथा भाषा संबंधी अव्यवस्था तर्क प्रस्तुत लिखा है – ''बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहास विरुद्ध कल्पित घटनाएं जो भरी पड़ी है उनके लिए क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्यग्रंथ है। पर काव्य ग्रंथों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराज विजय भी तो काव्यग्रंथ ही है, फिर इसमें क्यों घटनाएं और नाम ठीक-ठीक है। इस संबंध में इस के अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रंथ वास्तव में जाती है। यह हो सकता है कि इस में इधर-उधर कुछ पद्य चंद के भी बिखेर हों पर उनका पता लगाना असंभव है। यदि यह ग्रंथ किसी सम सामयिक कवि का रचा होता और इस में कुछ थोडे से अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ संवत् तो ठीक होते।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ: 30)

दूसरे वर्ग के विद्वान रासों को प्रामाणिक तथा चंदबरदाई को पृथ्वीराज के समकालीन मानते हैं। इस के अंतर्गत-श्याम सुंदरदास, मथुरा प्रसाद शिक्षित, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, मिश्रबंधु और मोतीलाल मेनारिया। इन में से कुछ 'रासो' के प्रक्षिप्त अंश को भी मानते हैं। इस वर्ग के विद्वानों ने काल वैषमय तथा गठना वैषमय तर्कों को काटने का प्रचास किया है।

तीसरे वर्ग के विद्वान रासो को अर्द्ध प्रामाणिक मानते हैं। उनके अनुसार पृथ्वीराज के दरबार में चंदनामक कवि था जिसने रासो लिखा था। परन्तु वह आज मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। आज उसका

परिवर्तित एवं विकृत रूप प्राप्त होता है। इस वर्ग के अंतर्गत डॉ.सुनीति कुमार चटर्जी, भुविजिन विजय, अगरचंद नाहरा, डॉ.दशरथ शर्मा, कविराज मोहन सिंह और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। पृथ्वीराज रासो की प्रामणिकता के संबंध में तर्क-वितर्कों को सुजने के बाद यह तीसरा वर्ग और द्वारा दिए तर्क अधिक तर्क सम्मत लगते हैं। यह वर्ग रासो के वर्तमान रूप में न तो प्रामाणिक मानता है और नहीं अप्रामाणिक। रासो को अप्रामाणिक माननेवाले भी इसे मानते हैं कि इसमें-इसमें कुछ चंद के छंद हैं। तथा प्रामाणिक माननेवाले विद्वान भी इसे स्वीकार करते हैं कि रासो के वर्तमान रूप में कई प्रक्षिप्त अंश है। अत: रासो को अर्धप्रामाणिक भावना अधिक समीचीन लगता है। डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने इस का समर्थन किया है। आगे उन्होंने दुख भी प्रकट किया कि प्रामाणिकता के इस धुंधु में रासो का साहित्यक महत्व कम होता जा रहा है। उन्होंने लिखा है - ''निरर्थक मंथन से जो उस्तर जेन राशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रंथ के साहित्यिक रस तक पहुंचाना हिन्दी के विद्यार्थी के लिए असंभव या व्यापार हो गया है।'' प्रामाणिकता के इस मत भेद के बावजूद पृथ्वीराज रासो भाव, भाषा-छंद आदि की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की एक अमर कृति है।

7.4. परमाल रासो (आल्हा खंड)-कवि-जगनिक (1173 सन्) :-

परमाल रासो उत्तर भारत में गीति काव्य के रूप में प्रचलित है। जन मध्य में वीरगाथा गीतों के रूप में लोकप्रिय इस काव्य का दूसरा नाम 'आल्हाखंड' है। जगनिक कालिंजर के राजा परमार देव की दरबारी कवि था। परमार देव जयचंद का सामांती राजा था। एक बार पृथ्वीराज ने काल्जिर राज्य पर आक्रमण किया। इस युद्ध में से क्षत्रीय वीर आल्हा और ऊदल वीरगति को प्राप्त हुए। जगनिक ने इन्हीं दो वीरों की वीरता को काव्य में प्रस्तुत किया। बहुत दिनों तक इस 'रासों' का एक खंड माना जाता रहा। सन् 1919 में नागरी प्रचारिणी सभा ने इसे प्रकाशित किया। यह आल्हाखंड आज भी वर्षाऋतु में उत्तर भारत में गाया जाता है। जनकंठ में जीवित होने के कारण इसमें कई परिवर्तन भी हुए। फिर भी जगनिक कवि की दृश्य स्पर्शी भाव धारा अब भी इस में घोषित है। श्रोताओं में रसोडेक पैदा करने तथा रोमांचित कर देने की अद्भुत शक्ति इन गीतों में है। सन् 1865 ई. में फरुखाबाद के तत्कालीन कलक्टर सर चार्लस इलियट ने जगनिक के इन लोकप्रिय गीतों का एक संग्रह 'आल्हाखंड' के नाम से संग्रह कराया था। परन्तु जगनिक कवि के मूलग्रंथ का वास्तविक रूप क्या था, आजतक पता चल नहीं सका। मौखिक बने रहने के कारण इस में अनेक प्रक्षिप्त अंश आ गये। इस के साथ-साथ पुनरुक्ति, एकरूपता, अक्रमबद्धता के दोष भी इस में पाये जाते हैं। क्षण भंगुर जीवन में वीरता दिखाने की शिक्षा यह वीर गीत देता है। कायरतापूर्ण अधिक दिव जी ने की अपेक्षा वीरता के साथ थोडे ही दिन जीना

उचित है। काव्य की निम्न पंक्तियां इसी आशय को उद्धीप्त करती हैं –

बारह बरिस लै कूकर जीयै और तेरह लौ जियै सियार।
बरिस अठारह क्षत्रिय जी यैं आगे जीवन को धिक्कार॥

आल्हाखंड के संबंध में आचार्य शुक्लजी ने लिखा है – ''इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हाखंड' कहते हैं जिस से अनुमान होता है कि आल्हा संबंधी ये वीरगीत जगनिक के रचे उस बडे काव्य के एक खंड के अंतर्गत थे चंदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामंत थे और बनाफिर शाखा के क्षत्रिय थे।''

7.5. जयचंद्र प्रकाश-जयमयंक जस चंद्रिका-कवि-भट्ट केदार-मुधकर कवि (सन्-1157-1186)

जयचंद प्रकाश तथा जयमयंक जस चंद्रिका दो अलग-अलग काव्य ग्रंथ हैं। जय चंद्र प्रकाश का कवि भट्ट कदोर है। भट्ट केदार ने इस में कन्नौज ने सम्राट जयचंद का यशोगान किया है। जयमयंक जस चंद्रिका का कवि मधुकर कवि हैं। ये दोनों ग्रंथ आज अप्राप्त हैं। केवल इन का उल्लेख सिंहालय दयालदास कृत 'राठौडी ही ख्याल'में मिलता है जो बीकानेर के राज-पुस्तक-भंडार में सुरक्षित हैं।

7.6. हम्मारी रासो : कवि-शारंग धर (सन् 1300)

हम्मारी रसो का कवि शारगंधर हैं। इस काव्य में रणथंभोर के राजा हमीर का कीर्तिगान है। मुसलमान राजा अलाउद्दीन की सेना के साथ हम्मी का जो भयानक युद्ध हुआ था, उसका ओजस्वी वर्णन इस काव्य में मिलता है। परन्तु यह काव्य भी अप्राप्त है। इतिहासकारों ने इसका उल्लेख मात्र किया है। जिस प्रति के आधार पर इसका प्रकाशन हुआ है। वह सर्वथा जाली लगता है। लगता है किसी परवर्ती कवि ने रचना की है।

7.7. विजयपाल रासो - कवि-नल्लकसिंह भट्ट (सन् 1298) :-

विजयपाल रासो का कवि नल्लसिंह माने जाते हैं। इस काव्य में करौली नरेश विजयपाल के युपों का सजीव वर्णन मिलता है।

7.8. रणमल्लछंद - कवि - श्रीधर (सन् 1397) :-

आचार्य शुक्लजी ने अपने इतिहास में 'रण मल्ल छंद' का उल्लेख किया है। उन के अनुसार कवि श्रीधर ने सन् 1397 में रणमल्लछंद नामक एक काव्य लिखा है। इसमें ईदर के राठौर राजा रणमल की उस विजय का वर्णन है जो उसने पाहन के सूबेदार जफर खां पर प्राप्त की थी।

8. आदिकाल के रासो काव्यों की विशेषताएँ तथा आदिकाल के अन्य काव्य

वीरगाथा काव्य आदिकाल की महत्वपूर्ण रचनाएँ मानी जाती हैं। इन वीरगाथा काव्यों के मूल्यांकन से ही हिन्दी साहित्येतिहास में आदिकाल का स्थान निर्भर है। भाषा की प्रारंभिक कठिनाइयों को झेल कर भी इस काल में साहित्य प्रचुर माला में ही लिखा गया है। संयोग से इनमें अधिकांश साहित्य प्रामाणिकता के प्रश्न से जूझ रहा है। फिर भी इन वीरगाथा काव्यों का महत्व इस दोष के कारण कम नहीं आंका जा सकता है। वीरगाथायों की सामान्य विशेषताएं निम्नांकित हैं।

1. अधिकांश वीरगाथा काव्य प्रामाणिक नहीं माने जाते हैं। अधिकांश वीरगाथा काव्य आज अपने मूल रूप में नहीं अपने विकृत रूप में ही दर्शन देते हैं। अपने मूलरूप में ये काव्यग्रंथ लघु रहे होंगे। कालांतर में अनेक प्रक्षेपणों के कारण उनका बृहत रूप हो गया है। इन काव्यग्रंथों का अप्रमाणिक होने का यही बलवती कारण है। इन काव्य ग्रंथों के प्रक्षेपित अंशों की पहचान आज असंभव है।

2. अधिकांश वीरगाथा काव्य आश्रयदाताओं या राजाओं की प्रशस्ति में लिखे गये चरित्र काव्य हैं। कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं को ही काव्य नायक बनाकर अतिशयोक्ति पूर्ण यशोगान किया है। वीरगाथा काव्यों के कवि अधिकांश दरबारी कवि ही थे।

3. वीरगाथा काव्यों में आल्हाखंड जैसे काव्य वीरगीतों के रूप में प्रसिद्ध हैं। मौखिक परंपरा में जन कंठ में ये अत्यंत लोकप्रिय हैं। फिर भी लोकगीतों की तरह कवि अज्ञात न होकर किसी कवि के नाम से ही अंकित है। आल्हाखंड का कवि जगनिक माने जाते हैं।

4. वीरगाथा काव्य इतिहास के संबद्धराजाओं की कहानियों पर आधारित होने के बावजूद इन में ऐतिहासिकता का सर्वथा अभाव है। काव्यग्रंथ होने के कारण कवियों ने इन में कल्पनात्मकता को ही अधिक प्रधानता दी है। इसलिए ऐतिहासिक के आधार पर इन वीरगाथा काव्यों की प्रामाणिकता पर विचार करना उचित नहीं हो गा।

5. वीरगाथा काव्यों में राजाओं की वीरता का वर्णन है। इस कारण से इन काव्यों का मूल रस वीर रस हो गया है। इन में राजाओं के द्वारा किए गए अनेक युद्धों का सजीव वर्णन भी मिलता है।

6. कवियों ने राजाओं की वीरता के बाद राजाओं के विवाह और उनके श्रृंगार जीवन को भी चित्रित करने का प्रयास किया। कुछ वीरगाथा काव्यों में विवाह या प्रेम या युवरानी ही युद्ध

का कारण बन जाती है। इससे इन काव्यों में वीर रस के साथ-साथ श्रृंगार रस का निरुपण भी बडी मात्रा में किया गया है।

7. वीरगाथा काव्यों में कवियों ने प्रकृति चित्रण में अपनी कलात्मकता दिखाई है। प्रकृति का आलंबन और उद्दीपन दोनों रूपों में चित्रण देखने को मिलता है।

8. अधिकांश वीरगाथा काव्य 'रासो' नाम से ही प्रचलित है। रासो गेयरूपक और रासक छंद के अर्थ में ही ज्यादा प्रयुक्त हुआ है।

9. वीरगाथा काव्य मुक्तक और प्रबंध दोनों रूपों में रचे गये है। बीसलदेव रासो के मुक्तक कोटी में तथा पृथ्वीराज रासो को प्रबंध की कोटी में रखा जा सकता है।

10. कुछ ऐसे भी वीरगाथा काव्य हैं। जिन का नाम मात्र उल्लेख साहित्यितिहास ग्रंथों में मिलता है। इनका वास्तविक रूप अब तक अप्राप्त है। भट्ट के दार की जयचंद प्रकाश तथा मधुर कवि की जयमयंक जस चंद्रिका ऐसी ही रचनाएँ हैं।

11. वीरगाथा काव्यों का संबध राज महल तक ही सीमित रहा। सामान्य जनता और उनके जीवन को इन में कोई स्थान नहीं मिला। राजमहल का जीवन भी अपने अतिशयोक्ति पूर्ण एवं चमत्कार रूप में ही आया है।

12. वीरगाथा काव्यों की भाषा पर अपभ्रंश का स्पष्ट प्रभाव है। परन्तु भाषा के कई स्तरों पर हिन्दी का विकास देखने को मिलता है। कई तत्सम शब्दों का प्रयोग भी कवियों ने किया है।

13. अधिकांश वीरगाथा काव्यों की भाषा डिंगल भाषा है। उस समय की साहित्यिक राजस्थानी भाषा को ही डिंगल भाषा माना जाता है। चारण और भाट कवियों के द्वारा गाने योग्य रूप में लिखे जाने के लिए डिंगल भाषा ही उपयुक्त भाषा थी। क्योंकि डिंगल भाषा में ओज और पौरुष पूर्ण वर्णन के लिए उपयुक्त स्तर शक्ति मिलती है। कुछ वीरगाथा काव्यों में पिंगल भाषा का प्रयोग मिलता है। उस समय की अपभ्रंश मिश्रित अत्यधिक ब्रज भाषा को पिंगल भाषा माना जाता है। वीरगाथा काव्यों की भाषा में तत्सम, तद्भव शब्दों के साथ-साथ अरबी, फारसी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है।

14. वीरगाथा काव्यों में विविध मुखी छंदों का प्रयोग हुआ है। दोहा, पाधडी, कवित्त आदि छंदों का विशेष प्रयोग हुआ है। इन के साथ-साथ वीररस पोषण के अनुकूल तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, कुंडलियां आदि का भी प्रयोग हुआ है।

15. ऐतिहासिकता की दृष्टि से अप्रामणिक होते हुए भी वीर रस और युद्धों के वर्णन के साथ-साथ साहित्यिक गरिमा की दृष्टि से भी इन वीरगाथा काव्यों या वीरगाथा साहित्य का महत्व अधिक है। इन वीरगाथा काव्यों के महत्व के रेखांकन करते हुए डॉ. श्याम सुंदर दास ने उचित दी लिखा है - ''इस काल के कवियों का युद्ध वर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि इन के सामने पीछे के कवियों की अनुप्रास गर्भित, किन्तु निर्जीव रचनाएं नकल सी जान पड़ती है। कर्कश पदावली के बीच वीर भावों से भरी हिन्दी के आदि युग की यह कविता सारे हिन्दी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती।''

8.1 मनोरंजक साहित्य :-

आदिकाल की इस साहित्यिक प्रवृत्ति का नामकरण डॉ.रामकुमार वर्मा के द्वारा (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास) किया गया है। आदिकाल में सिद्ध-नाथ और जैन साहित्य के रूप में धार्मिक साहित्य तथा वीरगथा काव्यों के रूप में वीरगाथा साहित्य प्राप्त होता है। इन दोनों से भिन्न जीवन को गंभीर पक्ष से अलग जनचित्त को मनोरंजक बनानेवाला हास्यविनोद साहित्य भी आदिकाल में रचा गया है। इस साहित्य का नामकरण डॉ.रामकुमार वर्मा ने मनोरंजक साहित्य के रूप में किया है। हास्य विनोदमय साहित्य को उन्होंने मनोरंजक साहित्य कहा है। आदिकाल में धार्मिक व वीरगाथा परक साहित्य से अलग हस्य-विनोदमय साहित्य लिखने वाला। एक मत कवि हुए वे हैं-अमीर खुसरो। अमीर खुसरो का परिचय देते हुए डॉ.रामकुमार वर्मा ने यही बात कही है - ''साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति डिंग काव्य (वीरगाथा काव्य) की रचनाओं तक ही सीमित थी। पूर्व में इस से भी गंभीर धर्म की भावना गोरख नाथ के शिष्यों के द्वारा प्रचारित हो रही थी। उस समय अमीर खुसरो ने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्मशासन की सुदृढ और कठोर श्रृंखला से मुक्त कर आनंद और विनोद के स्वच्छंद वायुमंडल में विहार करने की स्वतंत्रता। यही अमीर खुसरो की मौलिकता थी।'' स्पष्ट है कि अमीर खुसरो ने हास्य-विनोद मय साहित्य लिख कर आदिकालीन साहित्य को सर्वथा एक नया रूप दिया।

1. अमीर खुसरो :-

अमीर खुसरो एक विलक्षण व्यक्तित्व और प्रतिभा के धनी है। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने एक नया मार्ग अपनाया। भाषा के स्तर पर उन्होंने डिंगल और पिंगल भाषाओं, जो उस समय की साहित्यिक भाषाएँ थी, को छोड़कर खडीबोली, जो उस समय दिल्ली के आसपास सामान्य जन भाषा थी, को अपनाना। साहित्य के स्तर पर राजाओं का प्रशस्ति गायन करनेवाला वीरगाथा साहित्य

तथा जीवन की गंभीर समस्याओं का समाधान करनेवाला धार्मिक साहित्य न लिखकर जीवन को मनोरंजित करनेवाला हास्य-विनोद मय साहित्य लिखा है। यही नहीं खुसरो का व्यक्तित्व भी विलक्षण का है। अमीर खुसरो का असली नाम अबुलदसन था। परन्तु वे अमीर खुसरो के नाम से ही अधिक लोक प्रिय हैं। उनका जन्म एरा जिले के पटियाला गाँव में सन् 1253 को हुआ था। उनके गुरु का नाम शेख निजामुद्दीन औलिया थे। अमीर खुसरो बलिबन के दरबारी कवि थे। गुलाम, खिल्जी और तुगलक वंशी राजाओं के साथ इनका संबंध था। दिल्ली के सिंहासन पर लगभग 11 बादशाओं का आरोहण उन्होंने देखा था। मुसलमानी राजा के पास दरबारी कवि होने के कारण इन की कविता नई रसीली और मनोरंजक बन गया। खुसरो ने अपनी कविता के माध्यम से दो नये प्रयोग किए। 1. उन्होंने तत्कलीन काव्य आदेशों में न बंध कर जनसाधारण की बोली में हिन्दी रचना की। 2. साहित्य की तत्कालीन अव्यवस्थि परिस्थितियों में फारसी के समान सिंहासन पर हिन्दी को आसीन किया। खाली कबारी कोष लिखकर उन्होंने अरबी, फारसी और हिन्दी की त्रिवेणी को जन्म दिया। डॉ.ईश्वरी प्रसाद आदि विद्वानों ने खुसरो की प्रशंसा अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग से कर के उन्हें संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में बिठा दिया है।

अमीर खुसरो जिंदा दिली एवं खुदा मिजाज व्यक्ति थे। खुसरो के नाम पर इतिहास की पुस्तकों में अनेक ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है। परन्तु उन में आज बहुत कम ही ग्रंथ प्राप्त होते हैं। प्राप्त ग्रंथों में खालिकबारी, चारदरवेश, मुकरियां, पहेलियां, दो सुखने, गजल आदि उल्लेखनीय हैं। इन में से पहेलियाँ और मुकरियों के कारण ही अमीर खुसरो अधिक चर्चित हुए। इनमें उनकी हास्य-विनोद मय शक्तियां संग्रहित हैं। खुसरो के काव्य के लोक रंजक पक्ष पर दृष्टि पात करते हुए डॉ.रामकुमार वर्मा ने उचित ही लिखा है - ''खुसरो की जो कविता हमें प्राप्त है, उस में तो जीवन की विवेचना नहीं के बराबर है। ..... पर जितनी कविता खुसरो की आजतक प्राप्त हो सकी है, उसमें तो जीवन के किसी गंभीर तत्व का निरूपण नहीं है, उसमें जीवन की विवेचना नहीं है। उस में न तो दृश्य की परिस्थितियों का चित्रण है और न कोई संदेश ही। वह केवल मनोरंजन की समग्री है। जीवन की गंभीरता से ऊबकर कोई भी व्यक्ति उस में विनोद पा सकता है। पहेली, मुकरियों और दो सुखनों के द्वारा उन्होंने कौतूहल और विनोद की सृष्टि की है। कहीं-कहीं तो उस विनोद में अश्लीलता भी आ गई है।'' (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ:147-148)

अमीर खुसरो ने पहेलियों के साथ-साथ गजल, इतिहास, कोष, संगीत संबंधी रचनाएं भी लिखी हैं। परन्तु उनकी पहेलियाँ ही अधिक चर्चित हैं। पहेलियों में अंतर्लापिका, बदिलार्पिका। मुकरी

से सेखुने, बराबरी, ढकोसले आदि अनेक रूपों का प्रयोग भी क्रिया है। एक अंत र्लापिका (जिनका उत्तर पहेली में दी छिपा रहता है।) दृष्टव्य है –

श्याम बरन और दांत अनेक। लचकत जैसी नारी।

दोनों हात से खुसरो खींचे और कहे तू भारी॥ (झारी)

एक बहिर्लापिका (जिन का उत्तर पहेली में न होकर बादर से सोचकर बतलाना पड़ता है) दृष्टव्य है –

श्याम बरन की है एक नारी, माथे ऊपर लागे प्यारी।

जो मानुस इस अरथ को खोले, कुत्ते की वह बोली बोले॥ (भौं.)

स्पष्ट है कि खुसरो की पहेलियां स्तीली हैं तथा मनोरंजक हैं। आदिकालीन साहित्य में खुसरो के स्थान को स्पष्ट करते हुए डॉ.रामकुमार वर्मा ने लिखा है – ''चारणकालीन रक्तरंजित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धृत स्वरों में गूंज गई गयी थी और उसकी प्रतिध्वनि अभी भी शेष थी, पूर्व में गोरखनाथ की गंभीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्म शासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण कविता हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महान निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के लिए सदैव स्मरणीय रहेगा।'' (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ. : 153)

९. भक्ति आंदोलन का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

भक्ति-आंदोलन में जो 'आंदोलन' शब्द है वह आज के आंदोलन शब्द से बिलकुल अलग अर्थ देने वाला शब्द है। उस आंदोलन को आज के आंदोलन शब्द के साथ जोड़कर देखना एक दम गलत है। आज का आंदोलन शब्द राजनीतिक क्षेत्र से आया शब्द है। जो किसी भाव, वैचारिकता या नीति के प्रति व्यक्त विरोध, विद्रोह या असंतुष्टि प्रकट करने के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। मध्यकालीन आंदोलन शब्द इस से एक दम भिन्न है। सब से पहले यह शब्द सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्र से अलग आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में प्रयुक्त शब्द है। जो किसी विरोध, विद्रोह से कोसों दूर रहता है और वह किसी के प्रति असंतुष्टि भी नहीं है। बल्कि वह भक्ति क्षेत्र की एक सहज परिणति है। भक्ति के क्षेत्र में उद्भुत नयी भावना है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में विकसित एक सहज चेतना है। भक्ति के प्रति बदली हुई एक नयी दृष्टि है। किसी स्थापित भक्ति के प्रति विद्रोह नहीं है। बल्कि भक्ति के सहज विकास में प्रक्षेपित परिणाम है। अत: भक्ति आंदोलन को आंदोलन किसी भूल भटें के पर्यायवाची के रूप में कराना गलत होगा। बल्कि वह भारतीय भक्ति साधना एक नया दृष्टि कोण मात्र है।

भक्ति आंदोलन मध्ययुग में विकसित एक सामूहिक भक्ति साधना है। जो सर्वथा नवीन और व्यापक मान्य साधना है। इस के उद्भव और विकास के लिए सिर्फ भारतीय परिवेश की जिम्मेदार है। भारत अखंड भारत है। परन्तु भक्ति आंदोलन का आरंभिक परिवेश संपूर्ण भारत न होकर सिर्फ शिक्षण भारत ही रहा है। इसकी पुष्टि निम्न उक्ति से हो जाती है। कबीर की एक साखी में कहा गया है -

भक्ति द्राविड़ अपजी लाए रामानंद।

परगट करी कबीर ने साव सीप नौ खंड॥

इस से भक्ति आंदोलन का अखिल भारतीय स्वरूप झलकता है। वस्तु इस से यह भी स्पष्ट होता है कि भक्ति का आरंभ दक्षिण में हुआ फिर उसे रामानंद जैसे महात्मा उत्तर भारत ले गए, वहां वह खूब पुष्पित पल्लवित हुई। अत: भक्ति आंदोलन की प्रेरक परिस्थितियों की चर्चा करते हैं तो पहले आरंभ के प्रेरणा स्रोत तथा बाद में उसके विकास के विकास के लिए जिम्मेदार प्रेरणा स्रोतों का उल्लेख करना उचित होगा।

दक्षिण में भक्ति आंदोलन का संबंध तमिल प्रदेश के आलवार और नायनारों से हैं। इन दोनों ने भागवत धर्म को सर्वसुलभ और आकर्षक बनाने के लिए आंदोलन किया है। इन्होंने विद्रोहि शास्त्रों

की भक्ति या भावमूलक रूप प्रदान करने की कोशिश की है। आलवारों के द्वारा भक्ति-मार्ग को जो नया रूप दिया। वह वैष्णव भक्ति आंदोलन के रूप में लोक प्रिय हुआ। कहाँ वैष्णव भक्ति आंदोलन के रूप में लोक प्रिय हुआ। कदाचित इसे ही भारतीय भक्ति आंदोलन का आरंभिक रूप मान लेना चाहिए। इन्होंने वेद, उपनिषत, गीता से विचारों को ग्रहण करके तथा उन में युगानुरूप आवश्यक सुधार लाकर जन सामान्य के लिए एक नए मार्ग को अन्वेषण किया। इन्होंने पहलीबार भक्ति को सभी जातियों के लिए समान बताया। इन का आंदोलन जन-धर्मी था। जन-जन में इस का प्रचार हुआ था। इन्हों ने जनानुकूल पर रचना करके ''वैष्णव साहित्य को जन साहित्य बना दिया इन आल्वार भक्तों का समय शिक्षा की पांचवी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक माना जाता है। आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के आविर्भाव से इस में नयी चेतना जागी। फिर रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के द्वारा उठाये गए सवालों का नवीन उपाय खोज कर वैष्ण भक्ति आंदोलन को पुनर्जीवित किया। यही वह समय था कि भक्ति आंदोलन का प्रवेश उत्तर भारत में हुआ। ध्यान देने की बात है कि भारत का मध्यकाल यहीं से शुरु होता है। ''

भक्ति आंदोलन, उत्तर भारत पहुँचते समय उस के लिए कोई अनुकूल परिवेश नहीं था। संपूर्ण उत्तर भारत पर विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे। उत्तर भारत पराधीनता के बंधनों में जकड़ गया था। खास कर 13 वीं और 14 वीं शताब्दियों में धार्मिक क्षेत्र में अनेक उथल-पुथल हुए। धार्मिक क्षेत्र में उत्पन्न अनेक विषमताओं का समाधान करना था। यह समाधान सिर्फ भक्ति-आंदोलन ही कर सकता था। इसमें भक्ति आंदोलन उत्तर भारत में पहुँचते समय परिवेश अनुकूल नहीं होते हुए भी उसके फैलने के लिए तथा विकसित होने को लिए परिवेश ने ही मदद की है। शिक्षा से प्रसारित सर्व सुलभ, सार्वजनीन, सार्वभौमिक उदार वैष्णव भक्ति आंदोलन आवश्यक समर्थन प्राप्त करके उत्तर भारत में शीघ्र ही फैल गया है। इस कार्य को महात्मा रामानंद जैसों ने किया। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उत्तर और दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के सेतु रामानंद है जो कबीर तथा तुलसी जैसे हिन्दी भक्त कवियों के मार्ग दर्शक एवं दीक्षा गुरु हैं। संयोग की बात है कि उत्तर भारत में इस समय मुसलमानों शासन तथा इस्लाम का मार्ग हुआ था। राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्र के इस नए परिवेश ने भी उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन को आश्रय दिया। इस रूप में मध्ययुग या भारतीय भक्ति आंदोलन दक्षिण में जन्म लेकर अखिल भारतीय बन गया। यह बात सच है कि इस के विकास में उत्तर भारत की प्रेरक परिस्थितियों ने अधिक योग दिया है। भक्ति आंदोलन का यह अत्यंत शुभ परिणाम है कि इस ने भारतीय साहित्य को मध्ययुग में एक सूत्रता में बांधा है। भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन साहित्य

में इसने भावात्मक एकता को तो सुदृढ किया है। इस महती कार्य के पीछे की प्रेरक परिस्थितियों का आकलन करना इस संदर्भ में अत्यंत आवश्यक है।

युग जीवन परिस्थितियों से बनता-बिगडता परिवर्तित होता है। वही सिर्फ जन जीवन को ही नहीं बल्कि इस के लिए आवश्यक साहित्य निर्माण को दिशा-निर्देश भी होता है। भारतीय मध्ययुगीन भक्ति साहित्य का भक्ति आंदोलन ने ऐसा ही एक दिशा दी है। इस में तत्कालीन परिस्थितियों की अति महत्वपूर्ण भूमिका था। इस भूमिका को समझे भिन्न-साहित्य का विवेचन असंभव है। इस भूमिका को समझे बिना भारतीय भक्ति आंदोलन तथा उसके परिणामों को समझना भी असंभव है। इस भूमिका को बनानेवाली थी। उस समय की राजानीतिक सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ।

9.1 भक्ति आंदोलन की राजनीतिक परिस्थितियाँ :-

राजनीति जीवन की नियामक शक्ति है। प्रजातंत्र हो या शाही तंत्र राजनीति जन जीवन को तद्वारा जीवन के रुची क्षेत्रों को प्रभावित करती है। भक्ति आंदोलन के दक्षिण से उत्तर पहुंचने से के समय उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ विषमपूर्ण रही है। भारत में हर्षवर्धन राजा के पतन के साथ भारत का अखंड राज्य छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। ये विदेशी आक्रमणकारियों के लिए अनुकूल बने। इन को दर्शाना तथा अपने नए राज्यों की स्थापना करना आसान हो गया। इन मुसलमान विदेशी आक्रमणकारियों में मंगोल-मुसलमान मुख्य थे। खासकर तुगलक तथा लोडी वंश और बाद के मुगल वंशी राजा मुख्य थे। राजनीतिक अशांति इन्ही के कारण हुई थी। कुछ सीमा तक देशीय राज्यों के संघर्ष तथा आंतरिक विद्रोह भी कारण थे। इन सब के योग्य से उत्तर भारत के शासन के लिए कई शताब्दियों तक समस्थाएँ बनी रही। विदेशियों की धर्मान्धता ने हिन्दू धर्म और उसकी जनता को बुरी तरह परेशान करके रखा था। बदली हुई राजनीति धार्मिक-परिवर्तन का बढावा देती थी। इस से सामाजिक क्षेत्र में भी विस्फोट हो रहा तुगलकों की ओर से मुहम्मद बीन तुगलक (सन् 1345-51) फिरोतुगलक (सन् 1951-88) की ओर उत्तर भारत पर राज चला। दोनों कट्टर मुसलमान थे। संकीर्ण हृदयवाले धर्मान्ध थे। हिन्दू धर्म के लोगों पर इन्हीं के समय मे जजिया लगाया गया था। हिन्दू लोगों पर अध्याय करना तथा उनका धर्म परिवर्तन करना सामान्य सी बात हो गयी था। 1398 में तैमूर लैंग ने दिल्ली पर आक्रमण किया। ये भी उन से किसी भी रूप में कम नहीं थे। इन के अमानुषिक संहारक शासन से राजनीति और अस्त-व्यस्त हो गयी। बाद में आनेवाले सिकंदर लोडी (सन् 1489-1517) ने शासन-तंत्र को बदलने की कोशिश की है। शासन की दृष्टि से उदार होने पर भी धार्मिक दृष्टि से वे उदार नहीं थे। हिन्दुओं पर बलात् इस्लाम-धर्म लादा जाने लगा था। मंदिरों को तोड़कर

मसजिद खडे करने लगे थे। इस रूप में तुगलक वंश से लेकर लोडी वंश तक के दो-सौ वर्ष शासन काल मे शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के स्थान पर धर्मान्धता-प्रचार एवं आक्रमणों- जो अनावश्यक राज्य-विस्तार को भोग-लिप्सा से किए जाते थे, को बढावा मिला। इस रूप में समाज में धार्मिक असहिष्णुता से अशांति उत्पन्न हो गयी थी। प्रात्येक राजवंश में आंतरिक दोहों एवं वातक वडयंत्रों भोल-बाला था। इस अशांति का प्रलय प्रभाव जनता पर पडता था। इस से हिन्दू- प्रजा ही अधिक प्रभावित होती थी। क्योंकि हर अशांति या विद्रोह अर्थाभाव का कारण बन कर आता था और साधारण मुसलमान सैनिक से लेकर सुलतान तक हिन्दुओं को अपना खजाना समझकर चूसना अपना परम कर्तव्य समझते थे। जजिया बलपूर्वक वसूल किया जाता था। पूजा-अर्चना आदि मंदिरों से गायब होकर घर की चार-दीवारी में कैद हो गयी थी। राजनीतिक सत्ता के हाथ से निकलने के बाद हिन्दुओं में धार्मिक पराधीनता का शिकार होना पडा था। इस से बलने कई गरीब एवं निम्न वर्गीय हिन्दुओं ने मुसलमान धर्म स्वीकार किया था। इस प्रसार उत्तर भारत की राजनीतिक परिस्थितियों ने भक्ति आंदोलन के लिए अनुकूल वातावरण को तैयार किया है।

9.2 सामाजिक परिस्थितियाँ :-

भारतीय समाज मूलत: वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित समाज रहा परन्तु मध्य युग तक पेशे पर आधारित वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था के रूप में परिणत हो गयी थी। समाज विभिन्न जातियों के बीच में वैषम्य पैदा हो गए थे। उच्च वर्णों लोग निम्न वर्णों के लोगों का शोषण करना शुरू हो गया था। धार्मिक व्यवस्था की विषमताएँ तथा मुस्लीम विजेताओं की धर्म-पुचनी नीति को देखकर सिद्ध समाज में असुरक्षा की भावना बढनेलगी थी। दूसरी ओर हिन्दु समाज के निम्न वर्गों के प्रति होने वाले अत्याचारों में उन्हें धर्म परिवर्तन की ओर उन्मुख किया था। इससे भारतीय रुप में अव्यवस्था और बढ गयी थी। वर्णाश्रम व्यवस्था जो पुराना संतुलन पूरी तरह नष्ट हो चुका था। एक जाति परस्पर पूरक न बनकर प्रतिस्पर्धी बन बैठी। खान-पान, शादी-ब्याह एवं अन्य सामाजिक कार्यों में एक भयंकर आत्म-निग्रह व्याप्त हो गया। स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि कुछ जातियाँ अस्पृश्य माने जाने लगीं। शूद्र जाति के प्रति भी लगभग यही धारण पनपी थी। इन के लिए मंदिर में देव-दर्शन था आकाश-कुसुम बन गया था। नया आगत इस्लाम धर्म में ऐसा भेदभाव नहीं था। हिन्दू समाज की उपेक्षित जातियां इस इस्लाम धर्म की ओर झुकने लगी थी।

उच्च वर्ग की स्थिति इस से भिन्न थी। वह स्वच्छंद योग विलास में डूब गया था। यह प्रवृत्ति शासक-वर्ग से होकर सामंत जमींदार तथा सरदार वर्ग में बढ गयी थी। इस से संपूर्ण उत्तर भारत का

उच्च वर्ग में अनैतिकता और अनाचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। सुरा, सुंदरियों ने लीन होना वर्ग-प्रतिष्ठा बन गयी थी। स्त्री को विलासिता की वस्तु के रूप में देखना शुरु हो गया था। मध्य युग की इन सामाजिक परिस्थितियों ने किसी बडे सुधार व सामाजिक बदलाव के लिए आवश्यक वातावरण-निर्माण किया था।

9.3 धार्मिक परिस्थितियाँ :-

भक्ति आंदोलन का धार्मिक क्षेत्र के साथ सीधा संबंध था। आरंभ से भारत वैदिक धर्म की आधार-भूमि रहा है। भय और समय पर इस में विकसित विषमताओं ने नए धर्मों के विकास को प्रोत्साहन दिया था। जैन-बौद्ध धर्म ऐसे ही विकसित भारतीय धर्म रहे हैं। इसके अतिरिक्त बाहर से आगत धर्मों में भी भारत को प्रभावित किया है। खासकर मध्ययुग में प्रवेश करनेवाला इस्लाम धर्म ऐसा ही धर्म था। परन्तु भक्ति-आंदोलन के साथ इसका संबंध पर संदेह भी प्रकट किये गए हैं। यह सिर्फ संयोग की बात सी हो सकती है कि इस धर्म भारतीय आगमन के समय भारतीय हिन्दूधर्म का चीलातापन नष्ट गया था। किसी को धार्मिक विस्फोट की आवश्यकता था, जैन-बौद्ध धर्मों के अवशेष और व्यवहार कठिनाई ने पुन: वैदिक भक्ति पद्धति को पुनर्जीवित की बुनियादी को रखा। शंकराचार्य जैसे महात्माओं ने इस कर्मा की पूरी की। इसी समय विकिसित वैष्णवाचार्यों ने वैदिक धर्म को पुनर्जीवित किया। परन्तु हिन्दूधर्म में उस समय व्याप्त कुछ अंध पद्धतियों ने संवर्ग व आंदोलन के लिए उचित भूमि को तैयार किया ब्राह्मण धर्म के ठेकेदार बने थे। अनेकानेक पौराणिक तथा स्थानीय महत्व की देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी जिसमें बहुधा बलियाँ जाती थीं। शक्ति-सम्प्रदाय वालों का अलग प्रभाव था। दक्षिण के श्री संप्रदाय के आचार्य भी वेदांत देशिक ने उत्तर भारत की 13वीं-14वीं शताब्दियों को आंखों देखी जिस पतित धार्मिक अवस्था का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है, उस से उस समय की धार्मिक स्थिति का ठीक-ठीक परिचय मिलता है। द्वारका, मथुरा, प्रयाग, काशी आदि उत्तर भारत के जिस केन्द्र में वे गए, वहाँ घृणास्पद स्थितियों को ही उन्होंने देखा। साधकों का बाह्याडंबर मठाधि का पाखंड पूर्ण व्यवहार, जनता का नैतिक पतन, ब्राह्मण पुरोहितों का क्रूर धार्मिक व्यवहार आदि देख कर श्री देशिक को बहुत बुरा लगा। तभी उन्हें दक्षिण के भक्ति-आंदोलन की तरह उत्तर की धार्मिक स्थिति को सुधारन के लिए उन्हें एक व्यापक भक्ति-आंदोलन की आवश्यकता महसूस हुई।

9.4 सांस्कृतिक परिस्थितियाँ :-

राजा और सामंतवादियों की श्रृंगारिक-विलासिता से इस युग की संस्कृति प्रभावित हुई थी। यह विलासिता दरबार से निकल कर उच्च वर्गीय प्रांगण तक फैली था। समाज में कलाओं का पोषण दरबार के अधीन था। संगीत और साहित्य दरबार की शरण में पुष्पित पल्लवित हो रहे थे। त्योहार मेले आदि में बाह्याडंबरों को भोला बाला था। मेले आदि में बलि का महत्व था। नवागत इस्लाम संस्कृति भारतीय संस्कृति को प्रभावित करने लगी थी। विवाह आदि शुभ अवसर भी विलासिता के संदर्भ बन गए। वास्तुकला, संगीत आदि कलाओं पर इस्लाम संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा था। ताजमहल और लालकिला जैसे निर्माण इसके आदर्श प्रमाण है। नायक-नायिकाओं के नयनाभिराम मित्रों तथा विविध कलाओं के रूप में दोनों संस्कृतियों की चित्र कलाओं का समागम देखने को मिलता है।

इन्हीं राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भारत में भक्ति आंदोलन को जन्म दिया। जो मूलत: दक्षिण में जन्म लेकर विविध आचार्यों की सहायता से संपूर्ण भारत में यथाशीघ्र ही फैल गया। मध्ययुगीन भारतीय भक्ति साहित्य ही इस के साक्ष्य प्रमाण है। भक्ति आन्दोलन को सिर्फ एक धार्मिक आंदोलन के रूप में नहीं देखना चाहिए। वह मध्य युगीन समस्त भारतीय जीवन के सुधारवादी आंदोलन के रूप में उद्युत हुआ। भक्ति आंदोलन की यह सबसे बडी विशेषता है कि उसने अपने समय में संपूर्ण भारतीय जीवन को समग्र रूप से प्रभावित किया है। समस्त भारतीय भाषाओं में विस्तृत भक्ति साहित्य के सृजन के लिए यही भक्ति आंदोलन ही जिम्मेदार है। यह आंदोलन भारतीय परिवेश में भारतीयों की देन है। मोटे शब्दों में कहना हो तो तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों जैसे मुसलमान शासकों की कट्टर धार्मिक नीति, इस्लाम के प्रचार में उनके द्वारा किए गए अत्याचार, हिन्दू जनता की उदासी, समाज में वर्ण-व्यवस्था की कठोरता, अन्यवर्ग का भोग विलास पूर्ण जीवन, शूद्रों की दयनीय स्थिति, धार्मिक क्षेत्र में प्रतिति अवस्था आदि ने भक्ति आंदोलन को जन्म दिया है।

10. भक्ति संप्रदाय और भक्ति साहित्य

भक्ति आंदोलन धार्मिक आंदोलन के साथ-साथ एक सांस्कृतिक आंदोलन भी है। भक्ति आंदोलन सामजिक प्रवृत्ति के रूप में नहीं बिल्क एक सहज सामाजिक परिणति के रूप में विकसित हुआ है। इसी की प्रतिक्रिया के रूप में भक्ति साहित्य रचा गया है। भारतीय मध्ययुगीन भक्ति साहित्य के सृजन के पीछे विविध महात्माओं एवं संप्रदायों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। समय की मांग के अनुसार विविध आचार्यों ने विविध संप्रदायों का अन्वेषण किया। अपने उर्वरक विचारों से भारतीय जनता को समन्वित किया। अपने विचारों के माध्यम से भक्ति आंदोलन को सुदृढ़ किया। भक्ति साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण के लिए इन भक्ति संप्रदायों से परिचय प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है।

भक्ति दर्शन की विशेष पद्धति को ही संप्रदाय माना गया है। एक संप्रदाय व्यक्ति विशेष की उपज होते हुए भी दर्शन के स्तर पर वह एक सामूहिक प्रयास है। तेरहवीं एवं चौदहवीं शताब्दी ऐसे कई महात्माओं के लीला समय रहा है। फिर हों ने अपने अभूतपूर्व विचारों से भक्ति के क्षेत्र में नए दर्शन की स्थापना की है। इन के द्वारा प्रतिपादित दर्शन भक्ति-संप्रदाय के रूप में प्रचलित हुए। इन संप्रदायों की जड़ में मूलत: दक्षिण भारत में विकसित आलवारों का वैष्णव संप्रदाय रहा है। वैष्णव भक्ति संप्रदाय ने उत्तर भारत में अनेक भक्ति संप्रदायों को जन्म दिया है। इन में निर्गुण एवं सगुण भक्ति संप्रदाय शामिल है। इन में निर्गुण भक्ति से संबंधित ज्ञानमार्गी शक्ति संप्रदाय, सूफी भक्ति संप्रदाय, सगुण भक्ति से संबंधित खासकर कृष्ण भक्ति संबंधित 1.श्री संप्रदाय, 2. माधव संप्रदाय, 3. विष्णु संप्रदाय, 4. निंबार्क संप्रदाय, 5. रामानंदी संप्रदाय, 6. वल्लभ संप्रदाय, 7. राधावल्लभ संप्रदाय, 8. चैतन्य संप्रदाय, 9. सखी संप्रदाय आदि उल्लेखनीय है। इन सभी भक्ति संप्रदायों के प्रभाव से हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में भक्ति साहित्य रच गया है। भक्ति साहित्य के परिचय प्राप्त करने के पहले इन भक्ति संप्रदायों के परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इन सभी भक्ति संप्रदायों का परिचय निम्नांकित है।

10.1 ज्ञानमार्गी भक्ति संप्रदाय :-

यह ईश्वर के निर्गुण रूप का समर्थन करने वाला भक्ति संप्रदाय है। इस संप्रदाय के अनुसार ईश्वर की प्राप्ति ज्ञान से होती है। इस में गुरु का महत्व अधिक है। गुरु के बिना ईश्वर की प्राप्ति असंभव है। ज्ञान साधना के लिए सभी को समान माना है। ईश्वर इस संप्रदाय के अनुसार घर-घर में वास है। उसे अन्यत्र खोजने की जगह आंतरिक साधना से प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर से मुझे धार्मिक साधना, अंधविश्वास, रुचियों का विरोध यह संप्रदाय करता है। मूर्तिपूजा धर्म के नाम पर की जानेवाली हिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज, हज आदि विधि-विधानों एवं ब्राह्य आडंबरों को विरोध यह संप्रदाय करता है। ईश्वर से संबंधित विरहानुभूति का समर्थन भी इस संप्रदाय में देखा जा सकता है।

इस पर योग साधना का प्रभाव भी नकाश नहीं जा सकता है। इंगला, पिंगला सहस्र दल आदि का समर्थन यह संप्रदाय करता है। यह संप्रदाय नारी को माया समझता है। माया से सावधान रहने की सलाह यह संप्रदाय देती है।

10.2 सूफी भक्ति संप्रदाय :-

सूफी मत में प्रचलित 14 संप्रदायों में चिश्ती संप्रदाय का संबंध भारतीय सूफी भक्ति संप्रदाय से है। इस संप्रदाय की सातवीं पीढी में ख्वाजा मोईनुद्दीन हुए। इनके द्वारा ही भारत में सूफी संप्रदाय का प्रचार किया गया है। यह संप्रदाय एकेश्वर वादी है। यह संप्रदाय ईश्वर को सलक प्रत्येक वस्तु में देखता है। यह प्रकारांतर से ईश्वरीय सत्ता से प्रत्येक धर्म के दर्शन में देखता है। सूफी संप्रदाय ईश्वर को न जगत के बाहर समझता है न जगत में लीन। वह जगत के बाहर भी है और अंदर भी। ईश्वर का बोध कल्पनीय तथा अचिंतनीय है। ईश्वर ने अपने गूढ रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिए सृष्टि रची है। सूफी संप्रदाय का विश्वास है कि ईश्वर ने पहले मुहम्मदीय आलोक की सृष्टि की। वह आलोक बीज में बदला लिए उसी से पृथ्वी, मल, वायु, आदि का जन्म हुआ। महुम्मद सर्वश्रेष्ठ पूर्ण मानव है। सूफी संप्रदाय में पीर या सद्‌गुरु भी अपार महिमा है। सूफी संप्रदाय में साधना के सात सोपान है। प्रेम के अभाव में साधना में सिद्धि नितांत असंभव है। सूफी संप्रदाय में शैतान का महत्व भी माना गया है। यह साधना में बाधा डालता है। परन्तु यह शैतन को हेय मानने की जगह श्रेय मानता है। सूफी मत में प्रेम ईश्वर-प्राप्ति का एक मात्र साधन है। यह प्रेम निष्काम और निस्वार्थ है। सूफी संप्रदाय में ईश्वर पत्नी है तो साधक पति माना गया है।

10.3 श्री संप्रदाय :-

यह वैष्णव-भक्ति का सब से प्रमुख संप्रदाय माना जाता है। इस के प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य थे। इस संप्रदाय के दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के मायावद तथा अद्वैतवाद का खंडन कर जीव की स्थिति में सत्य की स्थापना की। पदार्थत्रय की स्थिति में इन का पूर्ण विश्वास था। इस संप्रदाय में परमब्रह्म (विष्णु) है। चित्र जीवन है। उचित अचेतन दृश्यमान जगत है। ये तीनों ही अनश्वर हैं। रामानुजाचार्य के वेदार्थ संग्रह, श्री भाष्य तथा गीतासाक्ष्य इस संप्रदाय के मूलग्रंथ माने जाते हैं।

10.4 माधव संप्रदाय :-

वैष्णव भक्ति संप्रदायों में इस का भी प्रमुख स्थान है। इस का प्रतिपादक मध्वाचार्य है। इन का एक नाम आनंद तीर्थ भी है। (सन् 1199-1305) इन का जन्म दक्षिण में वेलिग्राम में हुआ है।इनका दार्शनिक सिद्धांत द्वैतवाद है। ब्रह्म सूत्र भाष्य, गीता भाष्य इन के ग्रंथ है। खासकर कन्नड़ प्रदेशों में प्रचलित है। इन के दार्शनिक सिद्धांतों का प्रेरणा-श्रोत ग्रंथ भागवत पुराण है। इनके अनुसार परम ब्रह्म कृष्ण भक्ति से प्राप्य है। इस संप्रदाय में राधा को कोई महत्व नहीं दिया गया है।

10.5 विष्णु संप्रदाय :-

इस का प्रवर्तक श्री विष्णुस्वामी है। इस के बारे में मतभेद भी है। इस का दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद कहा जाता है। इसका एक नाम रुद्र संप्रदाय है। महाराष्ट्र के बारकरी संप्रदाय के साथ इस का संबंध है। माना जाता है इस का दार्शनिक पक्ष उसी पर आधारित है। यह माना जाता है कि वल्लभाचार्य गोस्वामी के द्वारा प्रतिपादित पर बैठे थे। तथा अपने पुष्टिमार्ग को इन्हीं से प्रभावित मानते हैं।

10.6 निंबार्क संप्रदाय :-

इस का प्रवर्तक निबार्कचार्य है। निंबयास्कर, निंबादित्य, नियमानंदचार्य आदि इन के नाम है। इन का दार्शनिक सिद्धांत द्वैताद्वैतवाद है। इस में राधा-कृष्ण की उपासना का विधान है। इस में कृष्ण का महत्व राधा से कहीं अधिक माना जाता है। इस में जीव और जगत का ब्रह्म से संबंध द्वैत है और अद्वैत भी है। निंबार्क के द्वारा रचित 'वेदांत पारिजात सौरभ' तथा 'दशश्लोकी' इस संप्रदाय के मूल ग्रंथ माने जाते हैं। ये दोनों ग्रंथ एक प्रकार से 'ब्रह्म सूत्र' पर आधारित है।

10.7 रामानंदी संप्रदाय :-

इस संप्रदाय का प्रवर्तक रामानंद हैं। ये रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय के अधिक प्रभावित हैं। इस संप्रदाय के दार्शनिक पक्ष को विशिष्टाद्वैतवाद ही कहा जाता है। रामानुजाचार्य के सिद्धांतों का रामानंद ने भारत भर में प्रचार किया है। रामानुजाचार्य के विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर राम और उनकी भक्ति के इन्होंने स्थापना की है। रामुजाचार्य ने उपासना के क्षेत्र में कर्मकांड को भी महत्व दिया था। परन्तु इन्होंने उसकी उपेक्षा करके सिर्फ भक्ति को भगवद्प्राप्ति का अन्यतम साधन माना है। भक्ति क्षेत्र में इन्हें जाति-पांति का भेद अस्वीकार्य है। राम भक्ति के प्रचारकों में रामानंद अग्रणी हैं। भक्ति संबंधी उदारता के कारण एक ओर निर्गुणवादी कबीर दक्षित हुए तो दूसरी ओर सगुणवादी तुलसीदास दीक्षित हुए।

10.8 वल्लभ संप्रदाय :-

कृष्ण भक्ति संप्रदायों में सब से प्रमुख संप्रदाय है। इस का प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य है। राधा और कृष्ण को आधार मानकर भक्ति का प्रचार करने वाले माध्वाचार्य की कृष्णोपासना तथा विष्णु स्वामी की गोपालोपासना को मिलाकर श्री वल्लभाचार्य ने उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन को एक नयी दिशा दी। पुष्टिमार्ग की स्थापना की है। उनके अनुसार ब्रह्म सत, चित तथा आनंद स्वरूप है। परमब्रह्म एक होकर भी अनेक हैं और स्वतंत्र हो कर भी भक्तों के अधीन है। जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है उसी प्रकार जगत और जीव भी सत्य हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर है। लीलमय श्री कृष्ण ही परम ब्रह्म है। इस संप्रदाय के भक्तों का विश्वास है कि श्रीकृष्ण के सदैव सेवा करने से जीव को सांसारिक सुख-दु:खों से मुक्ति मिलती है। वल्लभ संप्रदाय का मूलमंत्र है, श्री कृष्णः शरणं मम। शरणागति और अनन्य भक्ति ही वल्लभ संप्रदाय का मुख्य लक्ष्य है। माधुर्य प्रेम ही इस संप्रदाय का केन्द्र बिन्दु है। वल्लभ संप्रदाय में माया के लिए कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म स्वरूप कृष्ण के अनुग्रह से ही उस की अनुसूचि होती है। वह अनुग्रह ही पोषक है जिसे पुष्टि के नाम से अभिहित किया जाता है। इसी कारण से वल्लभ संप्रदाय पुष्टिमार्ग कहलाता है। इस संप्रदाय में वात्सल्य एवं सख्य भाव को भी महत्व दिया गया है।

10.9 राधा-वल्लभ संप्रदाय :-

इस संप्रदाय का प्रवर्तक श्री हितहरिवंश हैं। इस में लीला-विहारी राधा-कृष्ण की युगल उपासना की जाती है। इन्होंने किसी दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया, बल्कि राधा-कृष्ण की मूर्तियों की स्थापना के साथ मंदिर बनवाकर भक्ति का प्रचार किया। राधा-कृष्ण की प्रेमलीला और आनंद उल्लास के ध्यान में और युगल मूर्ति की पूजा में परमानंद प्राप्ति का मार्ग घोषित किया। इस संप्रदाय का मूल आधार राधा-प्रेम है।

10.10 चैतन्य संप्रदाय :-

गौरी संप्रदाय इस का दूसरा नाम है। इस संप्रदाय का प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु है। इस संप्रदाय के अनुसार हरिनाम स्मरण और कीर्तन मोक्ष के लिए एक मात्र साधन है। चैतन्य जी श्रीकृष्ण प्रेम में लीन होकर नाचा करते थे। इस संप्रदाय का सिद्धांत अचिंत्य भेदाभेद कहलाता है। इन के अनुसार परम तत्व स्वयं श्रीकृष्ण ही है। इस की भक्ति का मुख्य उद्देश्य कृष्णोपासना और उसके द्वारा भक्ति तत्व का प्रचार करना था। ब्रह्म के साथ जीव और जगत का वैसा ही संबंध है, जैसा शक्तिमान का शक्ति के साथ होता है। यह भेदाभेद संबंध नित्य सत्यहोते हुए भी अचित्य है, अर्थातु मनुष्य के विचार के बाहर है।

10.11 सखी संप्रदाय :-

हरिदासी संप्रदाय इस का दूसरा नाम है। इस में राधा-कृष्ण की युगल उपासना के साथ-साथ सखी भाव से भक्ति का निरूपण है। इस का प्रवर्तक स्वामी हरिदास है। कुछ इस निबांर्क संप्रदाय की शाखा मानते हैं। परन्तु सखी संप्रदाय को भेदाभेद सिद्धांत स्वीकृत नही है। 'भक्ति' प्रकाश में इस संप्रदाय के सिद्धांत और गुरु परंपरा का क्रमात्मक विकास दिया गया है।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का भक्ति साहित्य इन्हीं भक्ति-संप्रदायों की देन है। प्रत्येक संप्रदाय में अनेक भक्त कवि हुए हैं। संप्रदाय के दार्शनिक पक्ष को अपने काव्य सृजन के माध्यम से इन्होंने जन-जन में प्रचार किया है। अधिकांश भक्त कवि इन संप्रदायों में शिक्षित हुए। इन संप्रदायों के विश्लेषण से एक बात स्पष्ट होती है। दर्शन के स्तर पर ये सभी अलग-अलग लगने पर भी भक्ति के स्तर पर कहीं न कहीं एक दूसरे से जुडे हुए हैं। जैसे श्री संप्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने विष्णु से जुडे भक्ति का प्रचार किया। इस परंपरा में रामानंद ने विष्णु के दो अवतारों में कृष्ण और राम में से राम की मर्यादापूर्वक भक्ति पर अधिक बल दिया। निंबार्क, मध्व और विष्णु गोस्वामी, के दार्शनिक पक्ष का मूल आधार ब्रह्मसूत्र है। वल्लभ ने अपने पुष्ठिमार्गीय दर्शन निंबार्क एवं साहब संप्रदाय से ग्रहण किया। इन्होंने वात्सल्य एवं सख्य भाव को भी महत्व दिया। चैतन्य, हितहरिवंश तथा हरिदासी संप्रदाय पहले साधना-पक्ष प्रधान थे। बाद में इनका दार्शनिक पक्ष तैयार हुआ है। चैतन्य ने कृष्ण भक्ति में पदकीया भाव की मधुर भक्ति पर अत्यधिक बल दिया। हितहरि वंश के राधा वल्लभ संप्रदाय में भक्ति स्वक्रीया भाव की थी। किंतु इस में कृष्ण की अपेक्षा राधा की भक्ति को प्रश्रय दिया है। सभी संप्रदाय में सखी भाव को महत्व दिया गया है। चैतन्य और राधा वल्लभ संप्रदायों का प्रेरणा-स्रोत भागवत पुराण है। इन में श्रीकृष्ण को लोक रक्षक एवं लोकरंजक रूपों की स्थापना हुई है। परकीय भाव की माधुर्य भक्ति का प्रचार होने पर भी चैतन्य व दूरदर्शी संप्रदाय में वह वासना विमुख है। इस से चित्तवृत्तियों का परिष्कृति करण ही हुआ है। इस रूप में भक्ति काल में भक्ति संप्रदायों के द्वारा ईश्वर के प्रति समग्र भक्ति निरूपण हुआ है।

11. निर्गुण संत कवि और उन का काव्य

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल अनेक भक्तों का, संतों का, कवियों का सुवर्णकाल रहा है। इस में रसानुभूति प्राप्त भक्तकवि तथा साधना के कठोर मार्ग पर चलनेवाले साधक संत कवि हुए है। भक्तकवि और संत कवि दोनों भक्ति-साहित्य के प्रणेता होते हुए भी दोनों के व्यक्तित्व में तथा अभिव्यक्ति में अंतर दिखाई पड़ता है। भक्त कवि भक्त भी हैं और रसानुभूति प्राप्त कल्पनाशील सृजक कवि भी हैं। पांडित्य एवं शास्त्रीय दृष्टि इन की अतिरिक्त योग्यताएँ हैं। भक्तिरस निर्माण में इन का झुकाव पंडिताइपन की ओर है। जब कि संत कवि पहले संत हैं बाद में कवि है। कवित्व न होकर साधना इन का मुख्य लक्ष्य है। ये पहले साधक हैं बाद में कवि है। काव्य सृजन के संदर्भ में इन का झुकाव कवित्व की ओर रहता है इन के काव्य में कवित्व का पक्ष गौण है। दर्शन व वैचारक पक्ष प्रधान है। इसी कारण से कई साहित्येतिहासिकार और आलोचक ने आरंभ में इन की वाणियों को साहित्य के अंतर्गत ही नहीं माना है। कवित्व की गरिमा के अभाव के बावजूद इनका साहित्य जन-जन तक सरल संप्रेषणीय रहा है। इनका साहित्य जन भाषा में लिखा गया जन साहित्य है।

11.1 संत और संत कवि :-

'संत' शब्द को लेकर तथा 'संत कवि' को लेकर अनेक मत है। 'संत' का संबंध तत्सम शब्द 'सत्' से है जिसका अर्थ सत्य होता है। इस के अतिरिक्त इस का अर्थ 'नित्य' भी होता है। इस के और भी अर्थ निकाले गए हैं। सत् ब्रह्म है, राग द्वेष से विरहित रहना भी सत् है, मांगलिक कार्य संपादन भी सत् है। सदाचारी भी सत् है। पवित्रात्मा, परोपकारी, शांत रहना भी सत् है और संत है। इस प्रकार के मानवीय गुण जिस व्यक्ति में हो वह संत है। डॉ.पीतंबरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार सच्चा संत वह है, जिसे सत् की अनुभूति हो गई हो, या वह जो शांत हो, जिस की कामना शांत हो गई हो। प्राय: ये सभी गुण हिन्दी के संत कवियों पर लागू होते हैं। प्राय: संत कवियों ने इन अर्थों को अपने कविकर्म में शामिल किया है। संत कवि कबीर ने संत के लक्षण इस प्रकार बताए हैं -

> निरबैरी निष्कमाता, साई सेती ने हा
>
> विषियां सूँ न्यारा, साई सेती ने हा।

हिन्दी में निर्गुण मार्गी साधकों को संत नाम से सूचित किया जाता है। पर आगे चलकर संतों के नाम से दिखावा या शुरु हो गया। कबीर ने तो इन की खबर भी ली है। संतकवि का प्रमुख लक्षण कथनी और करनी का सामंजस्य माना जा सकता है। वे साधक भी हैं और समाज सुधारक भी हैं।

समाजगत वर्ग-संघर्ष में दलित, शोषित और उपेक्षित वर्गों का पक्ष लेना भी संत कवियों का लक्षण माना जा सकता है। इन की साधना भी समन्वयात्मक होती है। आलोचकों का विचार है कि संत की पूर्व परंपरा मंत्रयान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान-सहजयान से सिद्ध, सिद्ध से नाथ और नाथ से संत। इन सभी तत्वों का समावेश भी संतों में देखा जा सकता है। इन में वैष्णवता भी है और मुस्लिम-धर्म के प्रति उदारता भी। डॉ.परशुराम चतुर्वेदी ने इन के बारे में कहा है - ''इन्होंने हिन्दू धर्म से अद्वैत सिद्धांत, वैष्णव संप्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मांतर वाद आदि बातें ग्रहण की। बौद्ध धर्म से शून्यवाद, अहिंसा, मध्यमार्ग आदि अपनाये तथा इस्लाम धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव और सूफी संप्रदाय से प्रेम भावना को लेकर सब के सम्मिश्रण से एक नया पंथ चला देने की चेष्टा की।''

संत कवि सिर्फ साधक न होकर समाज सुधारवादी भी हैं। समाज की ज्वलंत समस्याओं का इन्होंने विरोध किया। संत कवियों में पंडित कम हैं। अनुभव संपन्नता उनकी अन्यतम विशेषता है। संत कवियों में ऐसी कई कवि हैं जो अशिक्षित हैं। 'कागज मसि छुवै नहीं' उक्ति को चरितार्थ करने वाले हैं। इसलिए उन्होंने अपने विचारों के दृष्टांत के लिए, अपने विचारों के सरल संप्रेषण करने के लिए उन्होंने लोकानुभवों तथा लोकप्रचलित पदार्थों एवं मुहावरों का सहारा लिया है। संत कवि विशेषी कवि भी माने जाते हं। उनका विद्रोह अधिकांश धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र का ही रहा है। संत का व्यक्तित्व अत्यंत सबल, निष्पक्ष और पूर्ण मानवतावादी है। उस में हीनता की ग्रंथी नहीं बनी था। समय-समय पर जो तिलमिला देनेवाली झुंझुलाहट और पंडितवर्ग के प्रति आक्रोश मिलताहै, वह दीनता का ग्रंथि और पंडित वर्ग के प्रति आक्रोश मिलता है। वह हीनता की ग्रंथि से उत्पन्न नहीं है। उस के मूल में मानवता वादी दृष्टिकोण, दलितों के प्रति सहानुभूति और जगजीवन की पुनव्यवस्था की आवश्यकता ही सम्मिलित रूप से है।''

11.2 संतकवियों की परंपरा :-

साधु और संतों की दृष्टि से भारत समृद्ध देश है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में भी अनेक संत हुए। पं.परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार संत जयदेव, सधना, लाल्दे, वेणी, नामदेव और त्रिलोचन है। इन्हों ने हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी रचनाएँ की हैं। हिन्दी साहित्य से संबद्ध मुख्य संत इस प्रकार है - स्वामी रामानंद, सैन, अबरि, पीपा, धर्मदास, दादूदयाल, रैदास, सुंदरदास, नानक, मलूकदास, गरीबदास, धरणीदास, चरणदास आदि । इनमें से अधिकांश योग साधक हैं। साधक होने के साथ-साथ इन्होंने साहित्य भी रचा है। संतों की यह परंपरा लगभग 18 वीं सदी तक अच्छुन्न रही है। संत के व्यक्तित्व अलग होने पर भी दर्शन के स्तर पर कई समानताएँ इन में पायी जाती हैं। सामूहिक स्तर पर इन के दार्शनिक पक्ष पर विचार किया जा सकता है।

11.3 संत कवियों का दार्शनिक पक्ष :-

लगभग सभी संत कवि निर्गुण वादी हैं। अर्थात वे परमब्रह्म के निर्गुण रूप पर विश्वास रखते हैं। इनमें कुछ सगुण का विरोध नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए कबीर ने अपने परम ब्रह्म को निर्गुण तथा सगुण से परे मानता है।

'नहिं निरगुन नहिं सतगुनभाई, नहिं सूछम-असथूल' कहीं-कहीं संत कवियों से इन का समन्वय भी देखने को मिलता है। कबीर ने तो निर्गुण के समीप पहुंचने के लिए सगुण की सेवा का अनिवार्य माना है -

सतगुण की सेवा करो, निरगुण का करु ज्ञान।
निरगुण सतगुण के परे, तहां हमारा ध्यान॥

कबीर अवतारवाद को नहीं मानते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म जन्म नहीं लेता है। जब पूरा विश्व उसकी लीला है तो उसे पृथक के लीलावतार धारण करने की आवश्यकता नहीं है -

संतो आबै जाइ सो माया।
है प्रति पाल काल नहिं बाके, ना कहुँ गया न आया॥
वे कर्ता न बराह कहा वै, धरणि धरै नद्रिं भारा।
ई सब काम साहेब के नाहीं, झूठ गद संसारा॥
सिरज नहार न व्यादी सीता, जल परवान नहिं बंधा।
वे रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा॥
दस अवतार ईश्वर की माया, कर्ता कै जिन पूजा।
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो, उपजे खपै सो दूजा॥

कबीर का निर्गुण विचार अवतरावाद का विरोध तो करता है। फिर भी वे पौराणिकता से पूर्णतया भक्त नहीं हो सके। संत अपने समय में जनता में प्रचलित पौराणिक कथाओं एंव पात्रों से पूणतया मुक्त नहीं हो सके।

संत कवियों ने ईश्वर के समान गुरु को महत्व दिया है। निर्गुण और ज्ञान के स्वरूप की पहचान के लिए गुरु का होना अनिवार्य हो जाता है। गुरु के बिना साधक साधना के मार्ग पर आगे नहीं

बढ सकता है। गुरुही साधक और ईश्वर का संयोग कराता है। गुरु भी हरि-कृप से ही प्राप्त होता है। संतों से पहले बौद्ध, जैन, सिद्ध और नाथों न भी गुरु को यही महत्व दिया है। मनुष्य अपूर्ण है। ईश्वर पूर्ण है। मनुष्य को पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए गुरु-कृपा आवश्यक है। कबीर जैसे संत कवियों न गुरु को ईश्वर से भी उच्च स्थान प्रदान किया है।

कबीर ते नर अंध दे, गुरु को कहते और।

हरि सठे गुरु और दे, गुरु रुठे नहीं और॥

गुरु के साथ-साथ संत कवियों का नाम में भी विश्वास है। नाम ही भक्त में समस्त आध्यात्म का केन्द्र बनता है ऐसे नाम का उपदेश गुरु भक्त से किंता साधक से करना है। निर्गुण संत कवियों की दृष्टि में 'नाम' आध्यात्मिक नाद-तत्व का ध्वनि-प्रतिनिधि है। नाम रूप की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। इस रूप में संत और भक्त को रूप चाहे समान्य रहा हो। नाम इसे मान्य ही है। यह सगुण और निर्गुण को जोडनेवाल एक कडी है। इसके अलावा निर्गुण संत कवि हठयोगवादी है। इन की दृष्टि में योग की साधना से अंतर्बाह्य शुद्धि होती है। हठयोग के साथ-साथ संत कवि अद्वैत दर्शन में विश्वास करते हैं। ब्रह्म अद्वैत है। द्वैत केवल माया के कारण हैं।

11.4 संत काव्य और समाज :-

संत कवि कोरे आध्यात्मवादी नहीं है। वे समाज सुधारवादी है। वे ईश्वर की प्राप्ति मानव में खोजते हैं। इसलिए वे क्रांति द्रष्टा भी हैं। इसलिए संतकाव्य में जन की तथा समाज की प्रतिष्ठा हुई है। संत कवि जनजीवन में व्याप्त कतिपय मृत-मूल्य और अंधविश्वासों का विरोध करते हैं। ये मानव जीवन को अंधकार में ढकेल रहे हैं। इनकी वजह से मानव जीवन सुख और शांति से हटता जा रहा है। इसलिए संत कवियों ने अपनी वाणियों के द्वारा समाज में निर्जीव मूल्यों की प्रतिष्ठा और निर्जीव आदर्शों का खंडन किया है। संत कवियों के द्वारा ख्याति सामाजिक आदर्श निम्नांकित है।

11.5 जातिवाद का विरोध :-

संत कवियों की दृष्टि से सबसे निर्जीव एवं अनावश्यक सामाजिक धर्म जातिवाद है। इसी जातिवाद के कारण ही भारतीय समाज में ऊँच-नीच का भेद फैल गया था। अस्पृश्यता इसी का भयंकर परिणाम था। संत कवियों का दृष्टि में सब मानव समान है। ईश्वर की प्राप्ति और अन्य साधना में भी सब समान है। संत कवियों में अधिकांश कतिपय निम्न जातियों से संबंध रखते हैं। इस कारण से भी उन्होंने जातिवाद या वर्ण व्यवस्था के प्रति कटु प्रतिक्रिया व्यक्त की है। कबीर ने तात्विक दृष्टि से सभी

वर्गों की समानता और एकता सिद्ध की –

राधो एक रूप सब मादीं।

अपने मनहिं विचारि कै देखो, और दूसरा नाहीं।

एकै त्वचा अधिर पुनि एकै, बिप्र सूद के माहीं॥

संत कवि किसी को जन्म से नहीं कर्म से पहचानने की बात कहते हैं। संत कवियों का विश्वास है कि ब्राह्मण और क्षत्रीय ही तत्कालीन सामाजिक अव्यवस्था के लिए जिम्मेदार है। इसलिए उन्हेंने इन के प्रति दोष प्रकट किया है। रैदास के शब्दों में –

मेरी जाति कुटुबां ढला ढोर ढोवंता।

नितदि बारानसी आसपासा॥

अब बिप्र परधान करदिं वंदवति।

तेरे नाम सरणाई रविदासु दासा॥

संत कवियों ने क्षत्रियों की भी निंदा की है। कबीर ने क्षत्रियों की निंदा करते हुए कहा है –

खत्री करै खत्रिय, धरमो, तिनकूँ होय सवाया करमो।

जीवहिं मारि जीव प्रतिपारें, देखत जनम आपनौं दारें॥

जातिवाद की जर्जरता से आतंकित जनता के लिए संतों के ये विचार अच्छे लगे। समाज में इन संत-बाणियों का स्वागत, ही हुआ है।

11.6 धार्मिक कट्टरता का विरोध :-

संत कवियों का धर्म मानवता धर्म है। इसलिए धर्म के नाम पर कट्टरता इनको पसंद नहीं आयी। खासकर संतकवियों के समय में समाज हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का जर्जर था। इस्लाम धर्म असहिष्णु एवं आक्रमण-वृत्ति का था। हिन्दूधर्म बाह्याडंबर एवं अंधविश्वासों से भरा था। निम्नवर्गीय हिन्दू धर्मावलंबियों का इस्लाम में बदलने की कोशिश भी हो रही थी। हिन्दुओं की प्रतिक्रिया इस विधर्म के प्रति उठने लगी। भ्रमण शील संत कवि धार्मिक अव्यवस्था से उखडी हिन्दू जनता को शांत करते थे। इसके लिए उन्होंने लोक भाषा और लोक साहित्य रूपों को अपनाया। संत कवियों ने अपनी शक्तियों के माध्यम से हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक संघर्ष के खिलाफ स्वर ऊँचा किया है। इन्होंने

इसलिए नारा दिया - 'ना हिन्दू ना मुसलमान'। संत कवियों की दृष्टि में धर्म की कट्टरता एवं अंधता ही इस का जड़ है। इसी संघर्ष के कारण ही सहज प्रेम मार्ग बंध हो जाता है। इसकी जगह अंध कट्टरता बढ जाती है। इसलिए कबीर ने घोषणा की -

पोथी पढि पढि जगु मुआ, पंडित भया न कोय

ढाई अक्षर प्रेम का, पढे सो पंडित होइ॥

पढि पढि के पत्थर भया, लिखि लिख भया जुईट।

कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एको छींट॥

11.7 आडंबरों का विरोध :-

सुखमय मानव जीवन के लिए आडंबरों की जरुरत पर संत कवियों ने अपने विचार किए है। उन की दृष्टि में आडंबर मात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है। इसलिए उन्होंने सभी बाह्याडंबरों को हटकर विरोध किया है। खासकर धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र के आडंबरों की निंदा की है। धार्मिक क्षेत्र के माला-तस्वीद, मंदिर-मस्जिक, तीर्थ-हज, हवन, पूजा-पाठ आदि के खोखेलेपन पर शेष प्रकट किया है। इनके अनुसार भगवान के प्रति प्रेमभाव ही सत्य है। कबीर ने इसलिए हिन्दू एवं इस्लाम धर्म में व्याप्त बाह्याडंबरों की कडी निंदा की है -

एक निरंजन भलहा मेरा। हिन्दू तुरुक दुहै, मेरा।

राखू बिरत न मुहरम जाना तिस ही सुमिरु जो रहे विदानां।

पूजा करूँ न निमाज गुण रु। एक निराकर हिन्दे नमसकारूँ।

न हज जाऊ न तीरथ पूजा। एक पिछाणयां तो क्या दूजा।

कहँ कबीर भरम सब भागा। एक निरंजन सूं मत लागा।

हिन्दू और मुसलमान दोनों बाह्याडंबरों को दो महत्व देकर ईश्वर के आत्मतत्व को भूल रहे हैं। इससे कोई प्रयोजन नहीं होगा। कबीर ने इन दोनों को फटकारा है।

हिन्दू अपनी करै बडाई गागर उवन न देई,

वे स्या के पायन तर सोवें या देखो, हिन्दुआई॥

मुसलमान के परि औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई।

खाला केटरी बेटी ब्याहै यह देखो तुरकाई॥

संत कवियों ने बाह्याडंबरों को मानव से दूसरे मानव को अलग करनेवाले तत्व बताये हैं। उनकी दृष्टि में आडंबरों का व्यक्तिगत पक्ष भी निरर्थक है। इनसे किसी का कल्याण नहीं हो सकता है। सामाजिक से ये जनता को पथ भ्रष्ट ही करते हैं। निर्वाह जनता का शोषण भी इन्हीं आडंबरों के आधार पर किया जाता है।

11.8 अहिंसावाद का समर्थन :-

संत कवियों ने हिंसा का विरोध करते हुए अहिंसा का समर्थन किया है। अहिंसा को उन्होंने सभी धर्मों को सार के रूप में पहला है। अंत नानक गाय, बकरी और माता में इसलिए भेद नहीं देख हैं। जीवों के प्रति सामान्य रूप से दया करना उन को पसंद था।

क्या बकरी, क्या गाय है, क्या अपना जाय।

सब का लोहू एक है, साहिब धरमाया॥

अतः सभी प्राणियों के प्रति एक जैसा प्रेम दो। दूसरे प्राणियों को पीडा देकर तोष पाना समानवीय है। कबीर ने भी हिंसा की निंदा की है।

मारू मास सब एक है, मुरगी, दिरनी, गाय।

आंख देखि जो खात है, ते नर नरकदि जाय॥

जो पर-पीडा को जानता है वही संत है। अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरों को मारना महापाप है। इस धर्म को जाने बिना हिंसा करनेवाले लोगों के प्रति कबीर ने दया दिखाई है।

बकरी पाती खात है, ताकी खैंची खाल।

जो नर बकरी खात है, तिनकौ कौन हवाल॥

11.9 नारी के प्रति दृष्टिकोण :-

संत कवियों ने परंपराश्रित नारी दृष्टि अपनायी है। संत कवियों के पहले धार्मिक क्षेत्र में नारी को बाधा के रूप में ही देखा है। शंकराचार्य ने नारी को नरक-द्वार बताया है। जैनों, सिद्धों और नाथों के साहित्य में भी नारी-निंदा दिखाई पड़ती है। संत कवियों ने भी नारी के प्रति निंदा स्वर ही सुनाई पड़ता है। संत कवियों ने इस नारित्व की निंदा की है। जो अपने बाह्याकर्षण से पुरुष को सम्मोदित करती है। कामांध बना देती है। नारी के इस काम रूप को उन्होंने माया बतायी है। नारी के बाह्य

सौंदर्य से उत्पन्न होने वाली कामवासना तथा उस के लिए प्रोत्साहित करने वाले नारीत्व दोनों उनकी दृष्टि में दोषी है। कबीरदास ने कहा है –

नारि कहावै जीव की, रदै और संग मोय।

जार सदा मन में बसै, खसम खुशी क्यों होय॥

नारी संयोग बडे-बडे योगियों को भी अपनी साधना से पथभ्रष्ट करता है। जो नारी के भरे-उभरे बाह्य रूप पर आकर्षित हो जाता है, वह कामी है। नारी अपने बाह्य-रूप के आकर्षण से पुरुष को कामांध बना देता है। नारी का पूरा शरीर निंदनीय है। पाप की खान है। सुंदरदास ने नारी की इस कुरूपता का वर्णन किया है –

कामिनी कौ भंग अति मलिन महा अशुद्ध,

रोम रोम मलिन मलिन सब द्वार हैं।

हाड मांस मज्ञा मेद चाम सें लपटे राखे,

ठौर ठौर रकत के भरई भंडार है।

सुंदर कहत नारी नख-शिख निंद रुप,

तादि जे सराहें वे तो बडेहुई गंकर है।

सुंदरदास के इस वर्णन ने जुगुप्सा जागती है। नारी के अंगांग सौंदर्य वर्णन से पुरुष में भोग-वृत्ति जाग सकती है। इसलिए संत कवियों ने इस के अंगों के नग्न वर्णन से वैराग्य-भावना जगाने की चेष्टा की है। नारी के प्रति हमेशा कामुक दृष्टि रखनेवालों को कबीर के निंदा की है –

जा तन की झांई परत, अंधा दोत भुजंग।

ते नर कैसे बाचि है, जिन नित नारी को भंग॥

संत कवियों की दृष्टि में नारी विष-बेला है। इस विष बेली से लिपट कर कामान्ध पुरुष अपने मरण की प्रस्तावना करता है। इस प्रकार संत कवियों ने कामाकश्रित नारी-पुरुष संबंधों की निंदा करते हुए, नारी की भर्त्सना की है। इसके बावजूद संत कवियों ने प्रतिव्रता नारी का समर्थन भी किया है। उनकी दृष्टि में प्रतिव्रता नारी समाज को वह शक्ति है जो वर्तमान और भावी पीढियों को शक्ति देती है। पतिव्रता का एक ही केन्द्र होता है – पति। पतिव्रता नारी इधर-उधर नहीं भटकती है। संतकवियों ने पतिव्रत धर्म को अपनी आध्यात्मिक साधना का आदर्श माना है। संत कवियों ने नारी जाति की निंदा

नहीं की। उस का पतिव्रत रूप उस की साधना की सबसे बडी प्रेरणा रही। उसका मातृरूप भी वंदनीय है। सिर्फ उसका कामिनी रूप संत कवियों के लिए निंदनीय एवं त्याज्य है।

11.10 संत कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्य रूप :-

संत कवि जन-जनके कवि हैं। पंडिताऊपन में महत्व न देने पर की स्वभावत: उनकी रचनाएँ विभिन्न काव्य रूपों में अभिव्यंजित हुई हैं। केवल गेय पुस्तकों में ही संत कवियों ने अपने सामाजिक अनुभवों को प्रबंधादि रूपों में भी व्यक्त किया है। कबीर आदि संतों की काव्यमय उलट बांसियां भी प्रसिद्ध हैं। संतकवियों ने साखी, सबद, रमैनी काव्यरूपों का प्रयोग किया है। साखी और दोहे में रूपत: कोई अंतर नहीं होता है। सबद संत कवियों द्वारा रचित पदों या गीतों का बोध है। विषय की दृष्टि से इनमें ब्रहमचिंतन, साधना और अनुभूति पक्ष दिखाई पडते हैं। सबद संगीतमथी होते हैं। रमैनी भी पद हैं। पद की संख्या की दृष्टि से रमैनी में पंचपदी, सतपदी, बारहपदी आदि भेद होते हैं। रमैनी में विषय की दृष्टि से जगत प्रपंच के संबंध में ही विशेष विचार प्रकट किए जाते हैं। संतों के काव्य रूप के संबंध में यह कहा जा सकता है कि साखी में जीव-विचार, सबद में ब्रह्म-विचार तथा रमैनी में जगत विचार प्रधान रूप के है।

11.11 संत कवियों की भाषा :-

संत कवि भ्रमणशील हैं। जन-जन में जाकर गागाकर अपने विचार प्रकट करने वाले कवि हैं। अत: भाषा लोकभाषा होने के साथ-साथ मिश्रित भाषा भी हो गयी है। संत कवियों की भाषा को इसलिए सधुक्कडी अथवा पंचमेल खिचडी के नाम से पुकारा जाता है। खडीबोली, ब्रज तथा राजस्थानी के मिश्रित रूप उनकी भाषा में देख सकते हैं। इन की भाषा के संबंध में आचार्य शुक्लजी के विचार इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं - 'इन की भाषा सधुक्कडी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खडी बोली है, पर रमैनी और पद में गाने केक पद है जिन में काव्य की ब्रज भाषा और कहीं-कहीं पूर्वी बोली का भी व्यवहार है।'

इस प्रकार संत कवि भक्त कवियों में एक विशिष्ट वर्ग के हैं। संत कवि दर्शन के स्तर पर मानवतावादी हैं। इन्होंने दर्शन के स्तर पर मानवतावादी हैं। इन्होंने दर्शन की जटिल बातों को भी सरल बनाकर जनमध्य में प्रचार किया है। इन्होंने थोडे सामाजिक अदर्शों एवं अंधद्विवाओं को विरोध किया है। संत कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्य रूप और भाषा लौकभ्रोती है। मिश्रित या खिचडी भाषा इनकी विशेषता है। इसलिए संत साहित्य जन-जन में अधिक सफल हुआ है।

12. सूफीमत, प्रमुख कवि और उनका काव्य

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की प्रेम मार्गीशाखा का संबंध सूफी मत से है। इस शाखा का दार्शनिक पक्ष सूफी मत पर आधारित है। सूफी मत एक विदेशी धार्मिक मत है। फिरभी इस ने भारत में हिन्दू और मुसलमानों के बीच में एकता का प्रयास किया है। अपने मत के मूल तत्व प्रेम के माध्यम से दोनों के बीच में सहिष्णुता बढाने की चेष्टा की। भारत में पृथ्वीराज की पराजय के बाद मुसलमान राजाओं का शासन मजबूत हो गया। परिणाम स्वरूप हिन्दुओं पर आघात ज्यादा हो गए। बलपूर्वक धर्म परिवर्तन होने लगा। धन का आकर्षण और विवशता दोनों ने धर्म परिवर्तन को बढावा दिया। किंतु इस विषय में मुसलमानों का एक वर्ग उदार था। वह वर्ग था। सूफी संतों का। सूफी संत हृदय परिवर्तन द्वारा धर्म-प्रचार का प्रयत्न कर रहे थे। अत: इनका प्रभाव धीरे-धीरे समाज पर पड रहा था।

सूफी मत पर प्रकाश डालने के पहले 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ पर प्रकाश डालना उचित होगा। सूफी शब्द के अर्थ के संदर्भ में विविध मत है।

1. 'सूफी' शब्द फारसी के 'सूफ' शब्द से बना है। जिसका अर्थ होता है सफेद 'ऊन'। आठवीं-नवीं शती में इस्लामी देशों के विश्वास महात्मा ऊनी वस्त्र पहना करते थे। इसलिए उनको सूफी कहा करते थे।
2. 'सूफी' का संबंध 'सफ' शब्द से है। जिस का अर्थ होता है 'पंक्ति'। इस मत के अनुसार सूफी अपने त्याग और तपस्या की वजह से कयामत के दिन अगली पंक्ति में खडे होने के अधिकारी होंगे और अल्लाह की सर्वाजिक प्रियहोंगे।
3. 'सूफी' शब्द का संबंध 'सूफा' से है। जिस का अर्थ चबूतरा है। माना जाता है कि मदीना की मस्जिद के सामने बने चबूतरे पर बैठकर उपासना करनेवाले संतों को सूफी कहा हो गया।
4. 'सूफी' शब्द 'सोफिया' का तद्भव है। जिस का अर्थ है - विधाना इस अर्थ के अनुसार ये साधक ज्ञानान्वेषी थे। इसलिए सूफी कहलाए।
5. 'सूफा' नामक एक जाति थी जो हजरत मुहम्मद के पूर्व मक्का के मंदिरों में उपासना किया करती थी, सूफियों का संबंध इसी जाति से है।
6. सूफी की एक व्युत्पत्ति 'सफा' है। जिसका अर्थ है - पंक्ति, निर्मला इस के अनुसार शुद्ध सरल, पंक्ति, जीवन, यापन करने के कारण उन्हें सूफी कहा गया ।

12.1 सूफी मत का दार्शनिक पक्ष :-

सूफी मत भी निर्गुणवादी है। सूफी मत एकेश्वरवादी है। इस्लाम धर्म से इसका सीधा संबंध है। ईश्वर की खोज और सांसारिक माया का त्याग ही सूफियों का मुख्य लक्ष्य है। एक मत के अनुसार इस्लाम के कठोर नियमों, विधि-विधानों और बाह्याचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप इस का जन्म हुआ है। यह रहस्यवादी एवं स्वच्छंद मूलक साधना है। सूफी कवियों का एक मात्र लक्ष्य ईश्वर से मिलन, उसके साथ एकत्व की अनुभूति। सूफियों ने ईश्वर और सृष्टि पर विशेष रूप से विचार किया है। उनके अनुसार ईश्वर एक है। वह पूरे विश्व में व्याप्त है। सारा विश्व उसी का प्रतिबिंब है। जब ईश्वर ने सृष्टि के द्वारा अपने को व्यक्त करना चाहा तो अपनी ही ज्योति से एक ज्योति का निर्माण किया, जिसे नूर मुहम्मद कहते हैं। इसी ज्योति से संपूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है। जिस में मनुष्य का स्थान सर्वोच्च है। सारे प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है। फिर भी वह परिपूर्ण नहीं है। इसके जीवन का लक्ष्य है कि पूर्ण मानव बनना अर्थात् ईश्वर के साथ एकत्व को प्राप्त करना। सूफी मत में इस की भी भी मान्यता है कि आत्मा परमात्मा का अंश है। इस संसार में आने से वह अपनेप्रिय से अलग हो गया है। जीवन की सार्थकता उस परम प्रिय से मिलने में है। इसलिए सूफी बाह्य सुखों से मुक्त होकर अंत: करण को शुद्ध बनाकर प्रेम के द्वारा ईश्वर के प्रति एकत्व को प्राप्त करना चाहता है। सूफी मत के अनुसार परमात्मा स्त्रीतत्त्व है। उसे प्रेम से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस्लाम में ऐसी परंपरा नहीं है। सूफियों को अपने इस सिद्धांत के कारण कई अत्याचारों का सामना करना पड़ा है। फिर भी वे अपने मार्ग के विचलित नहीं हुए अपने सिद्धांत को नहीं बदला है।

प्रियतम की प्राप्ति की उनकी साधना चलती रही। सूफी लौकिक प्रेम में विश्वास करते हैं। लौकिक प्रेम के द्वारा परम प्रिय को प्राप्त किया जा सकता है। इस रूप में मानवीय प्रेम उनके आध्यात्मिक प्रेम का प्रथम सोपान माना जा सकता है। आरंभ में सूफी मत में वैराग्य और चिंतन की प्रधानता थी। जूल-नून ने सूफी दर्शन को तर्क और विचार सम्मत बनाया है। साथ ही स्वतंत्र चिंतन को भी प्रोत्साहित किया। जिस की वजह से उन्हें इस्लाम विरोधी माना गया तथा उन्हें जेल जीवन भी काटना पड़ा है। सन् 714 में बसरा में उत्पन्न रबिया ने इस में प्रेम तत्व को जोडा है। इस के बाद धीरे-धीरे सूफी का एक निश्चित एवं निर्धारित सिद्धांत खडा हो गया। जो बाद में काफी व्यवस्थित ढंग से पूरे विश्व में फैल गया।

सूफी मत का दार्शनिक पक्ष सांकेतिक शब्दों से भरा है। सूफी मत में मान्यता है कि ईश्वर के चार गुण हैं। 1.जता (स्वाभाविक युग) 2.जमाल (सौंदर्य बोधक गुण) 3. जलाल (शक्ति) 4. कमाल

(असामान्य शक्ति)। ईश्वर की प्राप्ति एवं साधना की दृष्टि से सूफी मत में चार लोकों की कल्पना है। वे चार लोक है। 1.नाभूत (नरलोक) 2. मलकूत (देवलोक) 3.डबरुत (ऐश्वर्य लोक) 4. लादूत (माधुर्य लोक) इस लोक की प्राप्ति के लिए सूफी साधक बन कर साधना करता है। अनेक विघ्न बाधाओं को झेलता है। इस साधना के भी मार्ग चार है। 1. शरीयत-इसके द्वारा सूफी ज्ञान की प्राप्ति करता है। 2. तरीकत-तप और एकांत सेवन की स्थिति है। 3. मारिफत - यह अंह का त्यागने की स्थिति है। इस स्थिति में अहं का विनाश हो जाता है। 4. हकींकत - इस स्थिति में परम सत्य का बोध होता है। अथवा परम सत्य की अनुभूति होती है।

सूफी मत के अनेक संप्रदाय हुए हैं। इन में थोडा बहुत दार्शनिक अंतर भी देखा जा सकता है। प्रसिद्ध ग्रंथ 'भाई ने अकबरी' में 14 संप्रदायों का उल्लेख है। उनमें चिश्ती संप्रदाय, का दरी संप्रदाय, सुदारावादी संप्रदाय, नक्शबंदी संप्रदाय प्रसिद्ध है। इन में भारत में चिश्तीय संप्रदाय ही अधिक प्रचलित हुआ है। इस संप्रदाय की सातवीं पीढी में ख्वाजा मुईनुद्दीन हुए। जिन्हों ने प्रमुखत: भारत में सूफी मत का प्रचार किया है। इसी में कुतुबुद्दीन, का की फरीदुद्दीन, शंकरगंज हुए। यह संप्रदाय आगे चलकर अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया है। भारत में सूफी मत का प्रचार 9वीं शताब्दी को शुरु हुआ। 10 वीं शताब्दी में इनका विशिष्ट प्रचार हुआ। 16 वीं शती में मुगल साम्राज्य के साथ इस मत का भी ह्रास हो गया। सूफी मत अपने सरल-साधारण जीवन और उच्च आध्यात्मिक विचार के लिए, प्रेम साधना के लिए लोकप्रिय है। सूफी कवियों ने भारत में प्रचलित कथाओं को लेकर उन के माध्यम से अपने विचार प्रकट किए हैं। इनकी प्रेम कथाएँ प्राय: सभी प्रतीकात्मक है सभी सूफी कवियों ने साधक को प्रमुख बताया तथा साधना का मार्ग प्रेम है। साधक प्रियतमा स्त्री स्वरूप है। उनकी दृष्टि में प्रेम से बढकर विश्व में और कोई वस्तु नहीं है। उसीके माध्यम से सृष्टि के रहस्य को समझा जा सकता है, प्रेम की परि को प्राप्त करना ही उनका अंतिम लक्ष्य है। साधना का अंत सुखद एवं आनंदमय होता है। इन की प्रेम साधना सरल नहीं है बल्कि अत्यंत कठिन है। इस मार्ग पर कंटक ही कंटक है। परन्तु प्रेम का बाधक उन की चिंता किए बिना साधना के मार्ग पर चलता है। वह अपने चित और अचित की चिंता भी नहीं करता है। आरंभिक सुख-भोगों की ओर से भी मुह मोढ लेता है। पूरी निष्ठा के साथ मन लगा कर कष्टों को खुशी से झेलते हुए भागे बढता है। उसकी निष्ठा ही उस में आचत विश्वास भरती है। उसकी इस आत्म निष्ठा में आत्म समर्पण है। सूफी मत के अनुसार जीवात्मा प्रेम पथ पर चलकर विरह-व्यथा से पीडित होती है। यह व्यथा समस्त ब्रह्मांड पद अपना प्रभाव डालती है। इस प्रभाव के लिए साधक को अंतर-साधना भी करना पडता है। फलत:

इस साधना में बाह्य शरीर पक्ष कमजोर होता है और आंतरिक पक्ष मुख्य हो जाता है। इस का अंतिम लक्ष्य आत्म-दर्शन है। इस रूप में सूफी कवियों ने प्रेम का आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है। सूफी कवियों के अनुसार ईश्वर एक है। वह है 'हक'। उस में तथा आत्मा में कोई अंतर नहीं है। बंदा (आत्मा 'इश्क' के सूत्र के 'हक' तक पहुंचाता है। अंतिम दशा - 'मारिज' में पूर्ण एकत्व के बाद बंदा 'घना' होकर 'बक', स्वरूप उपलब्धी) के लिए प्रस्तुत होता है। निष्काम एवं निस्वार्थ प्रेम ही सब कुछ है। प्रेम के नशे में ही ईश्वर की अनुभूति का अवसर मिलता है। शैतान साधक को साधना के मार्ग से विचलित करने का प्रयास करता है। शैतान से बचने के लिए 'पीर' (गुरु) की जरूरत होती है। साधना से संबंधित इसी मार्ग को सुगम बनाते तथा समुचित प्रचार के लिए सूफी प्रेम काव्य रचे गए हैं। इस साधना को रहस्यवाद भी कहा गया है। सभी सूफी कवियों ने भाषा के स्तर पर अवधि के तथा काव्यरूप के आधार दोहा - चौपाई शैली को अपनाया है। कथा शैली एवं प्रबंधात्मकता इनकी विशेषता है। स्वप्नदर्शन, चित्र दर्शन, शुक-भाविका द्वारा संदेश भेजना आदि लोकप्रचलित पद्धतियों को इन्होंने अपनाया प्रेम कथाओं के रूप में वर्णन करने के कारण ये जन-जन अधिक प्रचलित हुई है। सूफी प्रेम काव्यों में साधक पुरुष भक्त है तो ईश्वर स्त्री स्वरूप है।

12.2. सूफी प्रेमाख्यान परंपरा :-

सूफी प्रेमाख्यानों का आरंभ कब हुआ, यह विवादास्पद विषय है। प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी के अनुसार उनके पहले ही स्वप्नावती, मुग्धालती, खंडरावती, मधुमालती और प्रेमवती जैसे प्रमाख्यान रचे गए थे। परन्तु उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों में प्राचीनतम कृति 'चंदायन' मानी जाती है। इस का रचनाकाल सन् 1377 या 1379 ई. है। तब से लेकर अब तक हिन्दी में कई प्रेमाख्यान काव्य रचे गए हैं। रचनाओं के काल क्रमानुसार इस काल सीमा को तीन युगों में बांटा जाता है। 1.आदिकाल(ई.सन् चौदहवीं शती के उत्तरार्ध से लेकर 15 वीं शती के अंत तक) 2. मध्य युग (सन् 16 वीं शती से 18 वी. शती तक) 3. उत्तर काल (19 वीं शती से बीसवीं शती के अंत तक) आदिकाल की एक मात्र उपलब्ध रचना 'चंदायन' है। इस के अतिरिक्त शेक कुतुबन कृत 'मृगावती' भी इस काल में रचा गया है। 'चंदायन' एक लोक गाथा पर आधारित है। इस में शुभाशुभ शकुन, जादू-रोना मंत्रादि का भी चित्रण है। भाषा इस की अवधी है। कुतुबन की 'मृगावती' भी एक प्रेम कथा है। इस में नायक और नायिका दोनों राज महल के संबंध रखने वाले है। नायिका उडने वाली विद्या में प्रवीण है। पिता की मृत्यु पर वह राज्य भार भी संभालती है। कथा में कौतूहल वर्णन के लिए घटनाओं पर बल दिया गया है। रंजन की 'प्रेमवन-जीव निरंजन रचना भी इसी युग की है।'

सूफी प्रेमाख्यानों का मध्य युग अत्यंत महत्व का है। एक प्रकार से इसे सूफी प्रेमाख्यानों का स्वर्ण युग भी माना जाता है। जायसी का 'पद्मावत' इसी युग का है। वस्तु और शिल्प की दृष्टि से यह शुद्ध प्रेमाख्यान लगता है। मंझन की मधुमालती, उसमान की चित्रावती, जलालुद्दीन की 'जमाल पचीसी' भी इसी युग की हैं। इनके अतिरिक्त जॉन की 'रत्नावली' शेख नबी की 'ज्ञान दीप' आदि रचनाएँ भी इसी युग की हैं। सूफी प्रेमाख्यानों के उत्तर युग में कोई खास सृजन दिखाई नहीं पड़ता है। इस युग के सूफी प्रेमाख्यान काव्यों के बाद में डॉ.परशुराम चतुर्वेदी ने उचित ही लिखा है - ''उन्नीसवीं शती से लेकर बीसवीं शती की अवधि तक इस प्रकार की भारी उमंगे उड पडती सी प्रतीत होती है। इस अंतिम युग की रचनाओं में न तो कहीं जायसी की प्रतिभा है। न मंझन का उसमान की सहृदयता है, न ज्ञान की योग्यता है, नतबी का पांडित्य है, न नूर मुहम्मद की कट्टरता है।'' इस काल की सिर्फ तीन रचनाएँ मिलती हैं। वे हैं खाजा अहमद की नूरजहां, शेख रहीम की 'भाषा प्रेम रस', नझीर की 'प्रेम दर्पण'। ये तीनों परंपराश्रित प्रेम कथा काव्य ही हैं।

12.3 सूफी प्रेम काव्यों की सामान्य विशेषताएँ :-

1. प्रेम तत्व :-

सूफी प्रेम काव्यों की मुख्य वस्तु प्रेम है। यह लौकिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम तक का विकास है। कवियों ने लौकि का प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है। आत्मारूपी नायक परमात्मा रूपी नायिका को अनेक विघ्न बाधाओं को झेलकर प्राप्त करता है। उसका उस परमात्मा के प्रति असीम अनंत प्रेम है। इस प्रेमसाधना में शैतान बाधा पहुँचाता है। तो इसे गुरु कृपा से दूर किया जाता है।

2. गुरु की भूमिका :-

सूफी प्रेम काव्यों में गुरु की बडी भूमिका होती है। शैतान को भगाने में गुरु ही सहायता करते हैं। बिना गुरु कृपा के प्रेम-पथ पर आरुढ नहीं हो सकता है। अत: संतों की भांति सूफी कवि भी गुरु को महत्व देते हैं।

3. प्रबंध कल्पना :-

सभी सूफी प्रेम काव्य प्रबंध तत्व को लेकर ही लिखे गए हैं। कथा सूत्र का होना इन की अनिवार्यता है। अधिकांश प्रेम कथाएँ लोक स्रोत से लेने के कारण अद्भुत एवं चमत्कार पूर्ण घटनाओं

का आलोचन भी इन में देखा जा सकता है। प्रबंध काव्य के शास्त्रीय लक्षण एवं सौष्ठव इन प्रेम काव्यों में देखा जा सकता है।

4. श्रृंगार रस की प्रधानता :-

सूफी प्रेम काव्यों में प्रेम-निरुपण होने की वजह से श्रृंगार रस का बहुत बडे पैमाने पर पोषण हुआ है। इस के अतिरिक्त प्रेम काव्यों में वीर, शांत तथा वीभत्स आदि रसों का परिचय भी देखा जा सकता है। श्रृंगार रस में भी संयोग श्रृंगार की अपेक्षा वियोग श्रृंगार की प्रतिष्ठा अधिक हुई है। आत्मा रूपी साधक का परमात्मा रूपी नायिका से मिलन एक लंबे विरह के बाद होता है। इस रूप में इन प्रेम काव्यों में विरह की तीव्र व्यंजना देखी जा सकती है। विरह-वेदना को यादव सूफी सिद्धांत के अनुसार अनिवार्य है। इन का जीवंत उदाहरण पद्मावत में नागमती का विरह वर्णन है।

5. रहस्यावाद :-

रहस्यवाद के दोनों प्रकार सूफी प्रेम-काव्यों में दिखाई पडते हैं। प रन्तु इन कवियों की झुकाव भवात्मक रहस्यावाद की तरफ है। भावात्मक रहस्यवाद के अत्यंत सरस एवं सूक्ष्म प्रसंग इन के काव्य में मिलते हैं। इस के अतिरिक्त कहीं-कहीं हठयोगियों के प्रभाव के साधनात्मक रहस्यवाद का आभास भी मिलता है। भावात्मक रहस्यवाद में विरहिणी आत्मा अपने प्रियतम की वियोग-जन्म वेदना में इस प्रकार व्यथित है -

हाड़ भये सब किंगरी नसें भई सब तांति।
रोम-रोम सो धुनि उठै, कहौ बिया के दि भांति॥

और साधानात्मक रहस्यवाद के उदाहरण भी सूफी प्रेम काव्यों में मिलजाते हैं।

नव पौरी बांकी, नव खंडा, नवौ जो चढै जाय ब्रह्मंडा।

6. उदारता एवं उदात्त तत्व :-

सूफी कवि संत कवियों से भिन्न है। संत कवि असामाजिक तत्वों का खंडनात्मक विरोध किया। सूफी कवि उन का विरोध करते हुए भी उदारता का परिचय दिया है। उन्होंने प्रेम तत्व के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम दोनों के लिए ईश्वर-प्राप्ति का पथ प्रशस्त किया। इसी कारण ये कवि उन की अपेक्षा अधिक लोक प्रिय हुए।

7. सूफी सिद्धांतों का समर्थन :-

सूफी मत में व्यक्त विचारों के समर्थन के लिए ही ये प्रेम काव्य रचे गए हैं। अत: इन में सूफी सिद्धांतों का समर्थन ही देखा जाता है। सूफी सिद्धांतों के अनुसार साधक को परमात्मा की प्राप्ति के लिए शरीयत, तरीयत, मारफत और हकीकत इन चार अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। प्रारंभ में उनका प्रेम लौकिक होता है। बाद में वह अलौकिक की ओर अग्रसर होता है।

8. नारी की प्रधानता :-

सूफी कवियों ने परमात्मा की कल्पना नारी के रूप में की है। इसलिए उनके काव्य में नारी को अधिक महत्व दिया गया है। उनके काव्य का केन्द्र नारी ही है। संत कवियों ने नारी से संबंधित प्रेम तथा आसक्ति की अवहेलना की है। वहीं सूफी कवियों ने नारी-प्रेम को बढावा दिया है।

9. शैतान का वर्णन :-

सूफी कवियों ने सांसारिक माया को शैतान माना है। वह आत्मा-परमात्मा के मिलन में हमेशा बाधक रहा है। आलोचकों का विचार है कि सूफी प्रेम काव्यों में शैतान को माया के समान साधक को साधना के मार्ग से भ्रष्ट करने वाला माना गया है। एक साधक गुरु की कृपा से शैतान के पंजे से मुक्त होता है। संत कवियों ने माया को हेय सिद्ध किया है। किन्तु सूफी कवियों ने शैतान को त्यागने योग्य नहीं माना है, क्यों कि शैतान के द्वारा उपस्थित व्यवधानों से साधक की अग्नि परीक्षा होती है और उसके प्रेम में दृढ़ता और उज्जवलता आती है।

10. प्रकृति चित्रण :-

सूफी कवियों ने अपने प्रेम काव्यों में प्रकृति को भी महत्व दिया है। उनके काव्यों में प्रकृति विरह को उद्धीप्त करने वाली शक्ति के रूप में चित्रित हुई है। यही नहीं उनका प्रकृति में प्रतिबिंबित है। षट्ऋतु वर्णन तथा बारहमासों में इन के प्रकृति चित्रण को देखा जा सकता है।एक उदाहरण द्रष्टवव्य है

कातिक सरद चंद्र उज्यिारी, जग शीतल हौं पिरहै जारी।
चौदह कला चांद परगासा, जनदु, जरै सब धरनि अकासा॥

11. प्रेम काव्यों के स्रोत :-

सूफी कवियों ने प्रेम काव्यों के लिए वस्तु को भारतीय जीवन से वह भी हिन्दू जीवन से ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए प्रस्तावत में जायसी ने चितौड़ के राजा रतन सेन और सिंहल द्वीप की रानी पद्मावती की प्रेमा कथा को चित्रित किया है। भारतीय जीवन से वस्तु को चुनकर इन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के मार्ग को प्रशस्त किया है।

12. इतिहास और कल्पना का समन्वय :-

सूफी कवियों ने अपने प्रेम काव्यों में इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय किया है। इतिहास ग्रहण से उनके काव्य जीवंत हुए हैं तो कल्पना से इन के काव्य सुंदर बन पडे हैं। कल्पना ने उनके काव्यों को अधिक संप्रेषणशील बनाया है। अपनी सूझ-भूज से कल्पना के सहारे कथा के प्रसंगों को आकर्षक एवं मन स्पर्शी बना दिए हैं।

13. शिल्पात्मक चेतना :-

सूफी प्रेम काव्य अधिकांश प्रबंध काव्य हैं। इनके लेखन के लिए उन्होंने तत्कालीन प्रचलित काव्य भाषा अवधि को प्रश्रय दिया। कहीं कहीं भोजपूरी एवं ब्रज भाषा के रूप भी मिलते हैं। काव्य सौंदर्य की वृद्धि के लिए उन्होंने उपमा; रूपका, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग किया। इस संदर्भ में उन्होंने मुख्यतया परंपरा का ही पालन किया है। इन प्रेम काव्यों में मुख्यतया दोहा-चौपाई शैली ही अपनायी है। कहीं-कहीं सोरठा बरवै छंदों का भी प्रयोग हुआ है। सूफी प्रेम काव्यों की शिल्पात्मक विशेषता इनकी प्रतीकात्मकता है। लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना उनको करती थी। इसलिए इन्होंने सांकेतिक एवं प्रतीक शब्दों का अधिक प्रयोग किया है सूफी कवियों ने अपने प्रेमकाव्यों से जायसी की मसनवी शैली का प्रयोग किया है। काव्य के आरंभ में ईश्वरीय वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति तथा तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा प्राप्त होती है। कहीं-कहीं कवियों ने अपना भी परिचय जोडा है।

12.4 सूफी कवि और उनकी रचनाएँ :-

सूफी कवि विविध कार्यदर्शी एवं विविध संप्रदायों से आबद्ध कवि है। सूफी सिद्धांतों का पालन एवं काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सूफी काव्यों में प्रमुख मलिक मुहम्मद जायसी है। ये सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी :-

उन का जन्म रायबरेली जिले के जायस कस्बे में सन् 1492 ई. को हुआ था। उनके पिता का नाम मलिक मोमरेज तथा नाना का नाम शेख अल्हदाद था। किवदंतियों के अनुसार जायसी विवाहित थे। उनकी सारी संतान मकान के नीचे दबकर मर गयी थी। अंत:साक्ष्य के अनुसार जायसी कुरूप और काले थे। उनका बायां कान और बाई आंख बेकार थीं। उनकी मृत्यु अमेठी में सन् 1542 को हुई थी। जायसी चिश्ती संप्रदाय के हैं। उन के गुरु का नाम निजामुद्दीन औलिया माना जाता है। जायसी ने प्राय:14 ग्रंथ लिखे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली में पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी कलाम नामक तीन ग्रंथों का ही अंजादन किया है। अब तक प्रकाशित किया है। अबतक प्रकाशित कृतियों में पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, चित्ररेखा, मदिरी बाईसी, मसलनामा और कान्हावत उल्लेखनीय है। इन में ही पद्मावत सर्वाधिक श्रेष्ठ काव्य माना जाता है।

पद्मावत का रचनाकाल सन् 1542 माना जाता है। लोकप्रचलित कथा को लेकर जायसी ने इस में इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय प्रस्तुत किया है। कथानक के दो भाग हैं। पूर्वार्ध में रतनसेन और प्रद्मावती के प्रेम का वर्णन है और उत्तरार्ध में अल्लाउद्दीन के आक्रमण से लेकर पद्मीनी के सती हो की कथा वर्णित है। इस में पद्मावती के नख-शिख, नागमती के वियोग तथा रत्नसेन के त्याग और शौर्य का वर्णन आदि प्रसंग अत्यंत महात्वपूर्म माने जाते हैं। जायसी ने इस में भारतीय दर्शन, ज्योतिष, पाकशास्त, कामशास्त्र, संबंधी विषयों की अभिव्यंजना भी की है। काव्य सौष्ठव व काव्य रूप की दृष्टि से भी 'पद्मावत' श्रेष्ठ काव्य माना जाता है।

रचना उद्देश्य की दृष्टि से भी 'पद्मावत' श्रेष्ठ माना जाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से प्रद्मावत हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के बीच सामंजस्य बनाये रखने में सफल हुआ है। जायसी ने बडी सहृदयता सामंजस्य बनाये रखने में भारती हिन्दू जीवन को इस में प्राथमिकता दी है। सूफी मत के अनुसरण की दृष्टि से भी 'पद्मावत' एक सार्थक काव्य माना जा सकता है। प्रद्मावत की प्रतीकात्मकता उसे जीवंत एवं रहस्यावादी बना देती है। जायसी के शब्दों में

तन चितउर मन राजा कीन्हा। दिय सिंवल बुधि पर मिनीचीन्हा॥
गुरु झुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नाग मति यह दुनिया धंधा बांचा सोइ न एसी चितबंधा॥
राघवदूत सोइ सैतानु। माया अलाउदी सुलतानु॥

प्रेम कथा एंडि भांति विचारहु। बूझि येहु जौं बुझै पारहु॥

इस में शरीर चितौड, मन को राजा, बिधलै द्वीप को दृश्य, पद्मावती को बुद्धि। हीरामत तोते को गुरु, नागमती को सांसारिक प्रपंच, राघवचेतन को शैतान और अलाउद्धीन 'प्रस्तावन' को कुछ विद्वान उपकाव्य गहारते हैं। परन्तु यह रूपक तत्व पूरे काव्य में योजित नहीं है। पद्मावती बुद्धि का प्रतीक न होकर परमात्मा के रूप में चित्रित हुई है। इसी आधार पर इसे रूपक या अन्योक्ति काव्य न मानकर समासोक्ति काव्य कहा गया है। वस्तुत: जायसी ने इस में लौकिक जीव के सरस वर्णन के साथ-साथ हठयोग, उपनिषद आदि दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया है।

पद्मावत एक रहस्यवादी काव्य माना जाता है। इस में सूफी रहस्यावादी दर्शन के साथ-साथ अद्वैतवादी दर्शन भी प्रतिफलित हुआ है। इस में प्रेमिका परमात्मा है और प्रेमी आत्मा है। इन दोनों के ऐक्य को ही परम लक्ष्य माना गया है। जायसी के अनुसार परमात्मा संसार के समस्त पदार्थों में भासित है। समस्त पदार्थों में उन्हीं का बिंब प्रतिबिंबित है। समस्त प्रकृति एवं प्राणी उस प्रियतम से मिलने की उत्कंठा में रहते हैं। पद्मावत का प्रेम कांड रहस्यवाद का सुंदर उदाहरण है। इसके अतिरिक्त पद्मावती के नख-शिख वर्णन अन्य प्रसंग भी रहस्यावादी बन पडे हैं। काव्य में रतनसेन हीरामन तोते के द्वारा पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन सुनकर बेसुध हो जाता है। उसे इस अवस्था में परम ज्योति के आनंद की अनुभूति होती है। उसके भंग होने से उसे बहुत बुरा लगता है। रतनसेन नवजात बालक के समान रोता है। अपने किए पर उसे पश्चाताप होता है। फिर इसमें चेतना लौटती है। उसे अनुभव होता है कि परमात्मा सर्वत व्याप्त है। परमात्मा हृदय में भी समा है। सिर्फ इस के साक्षात्कार होने की साधना है। ऐसी अवस्था में जीव विरह की ज्वाला में मलता है। उसे भारा संसार विरह तप्त दिखाई देने लगता है।

उन्ह बानन सस को जो न मारा? बोधि रहा सगरो संसारा॥

गगन नखरत जो जडिं न गवै। वै सब बानेजोहि कै हनै॥

जायसी का विश्वास है कि विरह में ही प्रियतम बसता है। यह भाव उसे प्रियतम के सामीप्य पहुंचाता है। पद्मावत के अंत में जायसी ने संकेत दिया है उसके भी उनकी रहस्यावादी प्रवृत्ति का आभास मिलता है जो साधानात्मक ने जहां योग की नौ पौरी आदि का वर्णन किया है वहां साधानात्मक रहस्यावाद की झलक मिलती है।

जायसी की अखरावट में वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर सूफी मत के संबंध में चौपाइयों में विवरण दिया गया है। इसमें ईश्वर, जीव, ब्रह्मा, सृष्टि, निर्माण, गुरु तथा धर्मचारक विवरण शामिल है। अखरावट जायसी की आध्यात्मक साधना की कुंजी के रूप में सामने आती है। जायसी की आखिरी कलाम में साठ दोहों और चार सौ बीस अर्द्धालियों में वर्णन है। यह एक खंड काव्य है। इस काव्य का एक नाम 'आखिर नामा' भी है। इसमें हजरत मुहम्मद के उपदेशों और सृष्टि की अंतिम अवस्था अर्थात् प्रलय का भी चित्रण है। स्थान-स्थान पर सूफी सिद्धांतों का समर्थन किया गया है। काव्य सौष्ठव की दृष्टि से यह बहुत श्रेष्ठ नहीं माना जाता है। जायसी की 'महरी बाईसी' बाईस छंदों का लघु काव्य है। डॉ.माता-प्रसाद गुप्त ने इस का संपादन किया है। यह एक रूपक काव्य भी है। इस में जीवात्मा रूपी नववधु को कहार डोली में बिठाकर परमात्मा रूपी प्रियतम के पास ले जाया जाता है। जायसी की 'चित्रलेखा' भी एक प्रेम काव्य है। इस का संपादन डॉ. शिव सहाय पाठक ने किया है, काव्य के आरंभ में ईश्वर की वंदना है। बाद में लौकिक प्रेम का चित्रण है। कवि ने इस संसार को नैथर और परलोक को प्रियतम का घर बताया है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए विरह में तड़पना अनिवार्य बताया गया है। जायसी की 'मसलनामा' में सिर्फ का मसले है। इस संपादन डॉ.शिवसहाय पाठक ने ही किया है। इस में सूफी सिद्धांतों का उल्लेख है। जायसी की 'कन्हावत' में भारतीय परंपरा के अनुसार श्री कृष्ण की जीवन गाथा कही गयी है। परन्तु यह जायसी की सामाजिक रचना नहीं मानी जाती है।

मंझन :-

सूफी कवियों में जायसी के बाद दूसरा स्थान मंझन का है। मंझन की बहु चर्चित रचना 'मधुमालती' है।'मधुमालती' के रचना काल को लेकर मतभेद है। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार मंझन के पिता का नाम 'अब्दुल्ला काजी खैरुद्दीन शरीफ' है। गुरु का नाम शेख मुहम्मद गौस है। मधुमालती में नायक राम कुमार है और नायिका राज कुमारी है। इन दोनों का प्रेम संबंध परियों के द्वारा संपन्न होता है। परिया राजकुमार मनोहर को मधुमालती की चित्रसारी में रातों रात पहुँचा देती है और फिर इसे लौटा भी जाती है। मधुमालती मां के शाप से चिडिया के रूप में बदल जाती है। राजकुमार राज्य छोड़कर जोगी बन जाता है।

कुतुबन :-

सूफी कवियों में कुतुबन भी चर्चित कवि हैं। उनकी काव्य रचना 'मृगावती' भी राज कुमार एवं राज कुमारी को लेकर लिखी गयी प्रेम कथा है। नायिका को इस में विविध विद्या निपुण बताया गया है। वह पिता की अनुपस्थिति में राज्य को भी संभालनेवाली बतायी गयी है। लेखन इस में अद्‌भुत एवं कौतूहलपूर्ण वट नामो का आयोजन भी किया है। इस में सूफी सिद्धांतों का यथासंभव निरुपण किया गया है।

उसमान :-

सूफी कवियों में उसमान भी एक हैं। उनकी 'चित्रावली' काव्य रचना लोक प्रिय है। चित्रावली में नायक चित्रवाली का चित्र देखकर एक अपना चित्र भी बना देता है। नायक और नायिका के मिलन कार्य में एक भूत का उपयोग भी किया गया है। एक मंदिर में दोनों का मिलन होता है। घटना विस्तार प्रियता के कारण नायक को जंगल में पहुँचा दिया जाता है। वहाँ इसे अजगर निगल जाता है। एक बार उसे हाथी की चपेट भी सहनी पड़ती है। इस के अलावा बालक को एक और नायिका से विवाह भी कर लेना पड़ता है। अंत में कथा सुखांत ही होती है।

इन के अतिरिक्त जलालुद्दीन की 'जमाल पच्चीसी' कवि जान की 'रत्नावती' शेख नर्बा की 'ज्ञानदीप' आदि प्रेम काव्य रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

स्पष्ट है कि हिन्दी में सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों का वैशिष्ट्य है। सूफी सिद्धांत विदेशी होने पर भी भारतीय लोक संस्कृति एवं भारतीय प्रेम कथाओं को अपनाने से उनके प्रेम काव्य अपने समय में अधिक लोकप्रिय हुए हैं। अपनी उदारता, सादृश्यता एवं प्रेम पद्धति की वजह से सूफी कवियों ने अपने समय के राजाओं को तथा सामान्य जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। संत कवियों के साथ इन की होड़े होने का बावजूद उनकी तरह खंडन-मंडन प्रवृत्ति से ये कवि मुक्त रहे। इस कारण से अपने सूफी सिद्धांतों को प्रचार करने में उन को एक सद्‌भाव पूर्ण माहौल मिल गया।

13. कृष्ण भक्ति, अष्टेछाप के कवि और उनके काव्य

दक्षिण के वैष्णव भक्ति आंदोलन से प्रेरित होकर उत्तर में अनेक कृष्ण भक्ति संप्रदायों का उदय हुआ है। वल्लभ, राधावल्लभ, चैतन्य, हरिदास आदि इसी प्रकार के संप्रदाय हैं। इन संप्रदायों ने कृष्ण को, राधा को तथा कभी कभी राधा कृष्ण के युगल रूप को केंद्र में रखकर अपने भक्ति दर्शन का प्रतिपादन किया है। समग्र कृष्ण भक्ति दर्शन के प्रतिपादन के बाद हिन्दी में समृद्ध कृष्ण भक्ति काव्य रचे गए हैं। हिन्दी का मध्य युग इन्हीं कृष्ण भक्ति रचनाओं से गूंज उठा है। भक्ति काल को स्वर्ण युग का गौरव इन्हीं रचनाओं से प्राप्त हुआ है। अत: अतिसमृद्ध कृष्ण भक्ति काव्य, उनको रचनेवाले कवियों और उनके दर्शन को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। हिन्दी में रामानंद जैसे महत्माओं ने विष्णु के सगुण रूप का विस्तार से प्रचार किया है। विष्णु के सभी अवतारी रूपों में सब से अधिक लोकप्रचलित रूप कृष्णा का है। अत: उत्तर भारत में सगुण रूपों में कृष्ण अवतार का ही अधिक प्रचार हुआ है। इस का श्रेय कृष्ण भक्ति संप्रदायों और उन में दीक्षा लेनेवाले कवियों का जाता है। कृष्ण भक्ति के संप्रदायों में वल्लभ संप्रदाय को तथा कृष्ण भक्ति कवियों में अष्टचाप के कवियों को अधिक गौरव प्राप्त हुआ है। इस लिए कृष्ण भक्ति का मतलब वल्लभ संप्रदाय का पुष्टि मार्ग तथा कृष्ण भक्ति कवियों का मतलब अष्टचाप के कवि पड गया है।

सगुण भक्ति ईश्वर के आकार में विश्वास रखती है। ईश्वर के आकारों में कृष्ण भी एक है। यह भगवान विष्णु के अवतारों में एक माना जाता है। कृष्ण को आराध्य बनाकर उनकी उपासना करना ही कृष्ण भक्ति है । कृष्ण की लीलाओं एवं महात्म्य के प्रति आकर्षित होना उनके दिव्यत्व को मानते हुए उनके प्रति समर्पित होना कृष्ण भक्ति के अंतर्गत ही आता है। इतना ही नहीं उनके सामीप्य लाभ की कांक्षा प्रकट करना, सामीप्य रहने की कोशिश करना भी कृष्ण भक्ति है। कृष्ण भक्ति में कृष्ण की दिव्य लीलाओं का गायन होता है। गायन के साथ साथ उन की लीलाओं को सुनकर पुलकावली होने के साथ साथ अपने जीवन को धन्य मान जाता है। उनकी लीलाओं में अपने को शामिल करने की कोशिश करना भी कृष्ण भक्ति है। कृष्ण के लीला - प्रदेश में जीने की कोशिश कृष्ण से सामीप्य रहने का आधार है। कृष्ण भक्त इसलिए श्री कृष्ण के लीला प्रदेश को भी श्री कृष्ण ही मानता है। श्रीकृष्ण के सामीप्य होने के साथ साथ अपने को समर्पित करना भी कृष्ण भक्ति के अंतगर्दत ही आता है। अपने मैं तत्व को मिटाना विविध सेवाविधियों से उनके अनुग्रह को प्राप्त करना ही समर्पण के अंतर्गत आता है। कृष्ण की प्राप्ति के लिए यह समर्पण अत्यंत आवश्यक है।

वैष्णव संप्रदाय में कृष्ण भक्ति का अपना अन्यतम स्थान है। क्यों कि विष्णु के अवतारों में यही अधिक प्रचलित है। कृष्ण भक्ति को लेकर भारत में अनेक संप्रदायों का विकास हुआ है। प्रत्येक संप्रदाय का अपना अपना दार्शनिक पक्ष, सेवाविधि है। इन में मूलत: श्रीकृष्ण के स्वरूप को लेकर भी अंतर है। साथ ही श्रीकृष्ण के साथ संबंध जोडने में भी अंतर है। समर्पण, सेवाविधि आदि में भी पार्थक्य देखा जा सकता है। फिर भी ये सभी संप्रदाय कृष्ण के प्रति भक्ति का ही प्रचार करते हैं। श्रीकृष्ण ही उनका ईश्वर है। ब्रह्म है और परमात्मा भी। कृष्णभक्ति के कुछ संप्रदायों में राधा - कृष्ण युगल स्वरूप की उपासना है। कृष्ण भक्ति की एक और विशेषता यह है कि इस में प्रेम और श्रृंगार को अधिक प्रतिष्ठा हुई है। साथ ही कुछ एक संप्रदायों में बालक श्रीकृष्ण की आराधना देखी जा सकती है। श्रीकृष्ण के साथ भक्ति में मुख्यतया सखा, सेवक, दांपत्य संबंध जोड़ना भी इस की विशेषता है। अत: कृष्ण भक्ति सख्य भक्ति, माधुर्य भक्ति एवं दास्य भक्ति के रूप में विकसित दिखाई पड़ती है।

13.1. कृष्ण भक्ति का उद्भव और विकास :-

कृष्ण भक्ति अति प्राचीन भक्ति पद्धति है। इस का संबंध भक्ति के आदि स्रोत है। भक्ति के आदि स्रोत वेद है। परन्तु वेदों में कृष्ण भक्ति का उल्लेख नहीं मिलता है। वेद, उपनिषद व ब्राह्मण ग्रंथों में जिस कृष्ण का उल्लेख मिलता है वह यशोदानंदन नहीं है। महाभारत काल में ही कृष्ण तथा कृष्ण भक्ति का उदय हुआ है। अत: कृष्ण भक्ति का आदि स्त्रोत महाभारत ही है। महाभारत में कृष्ण लोकरक्षक एवं धर्म -संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। उनकी इस महिमा से ही कृष्ण भक्ति की मजबूत नींव पड़ी है। महाभारत में ही सर्वप्रथम कृष्ण के द्वारकावासी जीवन का विस्तृत विवरण मिलता है। कृष्ण के गोपाल कृष्ण रूप का भी इसी में पहली बार उल्लेख मिलता है। कृष्ण चरित्र पर विशेष अध्ययन करनेवाले डॉ. भंडारकर के अनुसार वासुदेव धर्म, भागवत धर्म, सात्वत धर्म, पांचरात्र पद्धति, एकांत्रिक धर्म तथा वैष्णव धर्म के माध्यम से वासुदेव, नारायण, विष्णु, वासुदेव कृष्ण तथा गोपाल कृष्ण का प्रचार हुआ है। तद्वारा कृष्ण भक्ति का प्रचार जोर पकड़ा। भक्ति का गढ़ मानेजानेवाले दक्षिण भारत में कृष्ण भक्ति तथा पांच रात्र धर्म ईसा की पहली सदी के पूर्व ही पहुंच गए थे। तमिल कवियों के काव्य ही इस के साक्ष्य प्रमाण है। गीता से कृष्ण भक्ति दर्शन को स्थायित्व प्राप्त हुआ। हरिवंश एवं विष्णुपुराण में कृष्ण के बल-जीवन, गोप-जीवन एवं भक्त वत्सल रूप प्रतिष्ठित लिया गया है। वायु पुराण एवं अग्निपुराण में भी कृष्ण की कथा कही गयी है। पुराणों के प्रचार और प्रासर से श्रीकृष्ण तत्व को और बढ़ावत मिला है। पुराणों के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि विष्णु के अवतारों

में श्रीकृष्ण ही पूर्णावतार है। इस अवतार में ही श्रीकृष्ण की लौकिक लीलाओं में उनके लोक रंजक और लोक रक्षक दोनों ही रूप दिखाई देते हैं। जैन पुराणों में कृष्ण को महा मानव बताया गया है। जैन पुराणों में कृष्ण को वासुदेव और देवकी का पुत्र तो कहा गया है परन्तु उन्हें कहीं भी वासुदेव कृष्ण नहीं कहा गया है।

भागवतपुराण कृष्ण भक्ति का अनुपम स्रोत है। भागवतकार ने इस में विष्णु के सभी अवतारों के माहात्म्य का गायन किया है। उन अवतारों में कृष्णावतार का ही सर्वाधिक वर्णन हुआ है। साथ ही कृष्ण भक्ति की श्रेष्ठता निरूपित की गयी है। भक्तों की कहानियों के माध्यम से भागवतकार ने श्रीकृष्ण की लीलाओं को लौकिक धरातल पर खड़ा करके कृष्ण भक्ति को सर्वसुलभ बना दिया है। भागवत जैसा कृष्ण भक्ति रस ग्रंथ दूसरा उपलब्ध नहीं होता है। भागवत ने कृष्ण भक्ति को जन सुलभ बना दिया है।

पालि भाषा में लिखे गये जातकों में कृष्ण एवं कृष्ण भक्ति का उल्लेख दो बार हुआ है। पहली बार घट जातक में वर्णित देव गंभा और उपसागर के पुत्र वासुदेव कण्ह का चरित्र उद्धत, दर्पयुक्त और वीरता पूर्ण चित्रित किया गया है। महा उमग्ग जातक में भी वासुदेव का उल्लेख मिलता है। इस में कृष्ण के विलासी चरित्र का चित्रण मिलता है। इस रूप में वैदिक युग से लेकर जातक काल तक कृष्ण के तथा कृष्ण भक्ति के स्रोत प्राप्त होते हैं। यह भी स्पष्ट होते है कि उत्तरोत्तर काल में कृष्ण-भक्ति के स्त्रोत बढते गए हैं। जो कृष्ण भक्ति के प्रचार एवं प्रसार में मददगार साबित हुआ है।

वेद पुराणों के अतिरिक्त संस्कृत में लिखे गए काव्यों मे भी कृष्ण भक्ति का उल्लेख मिलता है। खासकर ईसा-पूर्व काल में लिखित संस्कृत ग्रंथों में लोक - मुख से प्राप्त कृष्ण-वृत्त को प्रस्तुत किये जाने का विवरण मिलता है। प्रारंभ में व्याकरण, काव्य, नाटक एवं चंपू-ग्रंथों के माध्यम से कृष्ण की मानवीय लीलाओं के विविध पक्षों का उद्घाटन मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, भास के दूत - वाक्य, बालचरित नाटक, अश्वघोष के बुद्ध-चरित नाटक में, हाल की गाहा सतसई, भट्ट नायक की वेणि संहार, माघ की शिशुपाल वध, क्षेमेंद्र कवि की हरि लीला, नारायण तीर्थ की कृष्ण लीला-तरंगिनी आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। इन में श्रीकृष्ण को लोकोत्तर मानवीय एवं दैवी दोनों रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

प्राकृत भाषा की रचनाओं में हाल की गाहा सत्तसई, विमल सूरि की हरिवंश चरिउ, शीलाचार्य की चउपन्न महापुरिस चरिउ आदि में श्रीकृष्ण का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार अपभ्रंश भाषा की रचनाओं में चतुमुह की हरिवंश पुराण, स्वयंभू की हरिवंश पुराण, रिट्ठणेमि चरिउ में जैन परंपरा के

अनुसार कृष्ण-कथा लिखी गयी है। इन के अतिरिक्त ललित कलाओं यथा संगीत, चित्रकला आदि के माध्यम से भी कृष्ण भक्ति प्रतिष्ठा हुई है। इस सर्वेक्षण का यही उद्धेश्य है कि हिन्दी में कृष्ण भक्ति के उदय के पहले ही इस की समृद्ध परंपरा संस्कृत में दिखाई पडती है। हिन्दी के कवियों ने अपनी काव्य-कृतियों के माध्यम से इस कृष्ण भक्ति अमृत धारा को और प्रवाहित किया है।

13.2. कृष्ण भक्ति के स्रोत और स्वरूप :-

हिन्दी में कृष्ण भक्ति के उदय के पहले ही भारतीय भाषाओं में कृष्ण की उपासना देखने को मिलती है। कृष्ण भक्ति का मूल आलंबन श्रीकृष्ण है। कृष्ण भक्ति के स्त्रोतों के अनुशीलन से एक बात स्पष्ट होती है कि श्रीकृष्ण के लोकोत्तर दिव्यत्व रूप आरंभ से नहीं था। वेदों में वे मुख्य देवता के रूप में चर्चित नहीं है। परन्तु बाद के युगों में वे मुख्य देवता के रूप में उभरे हैं। खास कर महाभारत के प्रणयन से कृष्ण और कृष्ण भक्ति का प्रचार विधिवत शुरु होता है। महाभारत के बाद हरिवंश पुराण, भागवत पुराण आदि पुराणों में कृष्ण भक्ति की विस्तृत चर्चा हुी है। महाभारत के प्राचीन अंशों (जय या जयेतिहास में) में कृष्ण के देवत्व या अवतारवाद की कोई कल्पना दिखाई नहीं पड़ती है। बाद के अंशों में अवश्य कृष्ण को परमेश्वर नारायण और अवतार माना गया है। महाभारत में ही कृष्ण के १. लौकिक मानव कृष्ण २. अलौकिक परमेश्वर कृष्ण दोनों रूपों की प्रतिष्ठा हुई है। तब से श्रीकृष्ण हिन्दू समाज के देवत्रयी में एक हो गए। बल्कि प्रजा-उपासना के क्षेत्र में सर्वोपरि महत्व को प्राप्त किया। महाभारत काल से ही भारत में वैष्णव भक्ति की नींव पड गयी। महाभारत के प्रणयन से विष्णु की महत्ता सृष्टि के पालक और रक्षक देवता के रूप में स्थापित हुई है। संसार में जब-जब अत्याचार और अनाचार-अधर्म बढ़ा है, तभी भगवान विष्णु ने अवतार धारण करके समाज से असुरों का उन्मूलन किया है और अपने आर्त भक्तों का उद्धार किया है।

वेष्णव भक्ति या कृष्ण भक्ति के विकास में भक्ति आंदोलन का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह आंदोलन मुख्यतया विष्णु के अवतारों - राम और कृष्ण को आधार मानकर चलने पर भी मुख्यतया कृष्ण भक्ति के प्रवाह में ही ज्यादा योगदान दिया। इस रूप में दक्षिण भारत और उस के साहित्य का भी इस में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। खासकर तमिल के संघमकालीन प्रबंधम साहित्य के आलवार भक्तों का इस में विशेष येगदान रहा है। दिव्य प्रबंधम ने कृष्ण भक्ति में चार चांद लगा दिए हैं। आरंभ में वासुदेव धर्म, पांच रात्र पद्धति, सात्वत धर्म को जो परंपरा थी वही दिव्य प्रबंधम काल में वैष्णव धर्म के रूप में विकसित हुआ। दक्षिण भारत में विकसित यह वैष्णव संप्रदाय आगे उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति को व्यापक एवं स्थिर रूप प्रदान किया। आगे वैष्णव और जैन पुराणों ने

कृष्ण भक्ति एवं कृष्ण की लीलाओं को सर्वजन प्रिय बना दिया। इन में भागवत पुराण की भी अद्वितीय भूमिका रही है। जयदेव के 'गीत गोविंद' तथा विद्यापति पदों ने कृष्ण लीलाओं को लोकप्रिय बना दिया ।

स्पष्ट है कि दक्षिण में ईसा के पूर्व काल में ही वैष्ण भक्ति का उदय हो चुका था। आलोचकों के अनुसार संघम काल भक्ति आंदोलन का उषाकाल है और आलवारों के आविर्भाव काल को भक्ति काल का सूर्योदय है। इस रूप में दक्षिण भारत में कृष्ण भक्ति को व्यापक रूप देने का गौरव आलवार भक्तों को दिया जाता है। निरीश्वरवादी संप्रदायों - जैन और बौद्धों ने अपने नास्तिक विचारों को जनता में फैलाया था। किंतु आलवारों ने वैदिक तत्व के स्वरूप को सुधार कर नया रूप प्रदान किया। प्रमुख कवि दिनकर ने आलवारों के प्रबंधम को भक्ति आंदोलन का मूल ग्रंथ माना है। प्रबंधम के माध्यम से आलवार भक्तों ने वैष्णव भक्ति में नये प्राण ड़ाल दिए। प्रबंधम में सब से अधिक श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का सजीव वर्णन मिलता है। प्रबंधम के कारण ही वैष्णव भक्ति का खास कर कृष्ण भक्ति का बहुमुखी विकास हुआ है।

कृष्ण भक्तिके प्रचार में वैष्णव पुराणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भगवान विष्णु के चारों अवतार - मत्स्य, कूर्म, वाराह तथा वामन के नाम पर चार पुराण मिलते हैं। विष्णु के आध्यात्मिक रूप तथा महिमा का व्यापक वर्णन नारद, विष्णु, पद्म, भागवत तथा ब्रह्मवर्त पुराणों में मिलता है। इन पुराणों में कृष्ण को देवाधिदेव कहकर परम शक्ति का रूप माना गया है। इन पुराणों में कृष्ण को षडगुणों से युक्त भगवान कहते हुए भी उनके नरवतार के दो रूपों में ऐश्वर्यमय और माधुर्यमय की अभिव्यंजना की है। वे लोक हित के लिए अलौकिक कार्य करते हैं। कृष्ण के मथुरा एवं द्वारका में किए गए वीरतापूर्ण कार्य उनके ऐश्वर्यमय रूप के अंग हैं और उनकी शैशव एवं बाल-लीलाएँ लोकरंजक एवं भक्त-मन-रंजककारी हैं। इस के अतिरिक्त हरिवंश, विष्णु, पद्म और भागवत में कृष्ण के गोपी वल्लभ रूप का विस्तार है और रास लीला का वर्णन है।

जैन पुराणों ने भी कृष्ण भक्तिके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन पुराणों ने कृष्ण को महा मानव के रूप में चित्रित किया है। इन पुराणों के बाद रामानुजा चार्य से लेकर हरिदास तक अनेक महानुभावों ने कृष्ण भक्ति के दार्शनिक पक्ष का सुदृढ बुनियादी रखी। परिणाम स्वरूप पूरे भारत में कृष्ण भक्तिका बहुत तेज गति से विकास हुआ प्रत्येक प्रदेश के कवियों ने श्रीकृष्ण के पुष्ट दर्शन के बल पर उत्कृष्ट काव्य-रचना करके कृष्ण भक्ति के विकास में अपना अपना योगदान प्रस्तुत किया है।

13.3 कृष्णभक्ति से संबंधित विविध संप्रदाय :-

वैष्णव भक्ति के अन्नयन काल में वैष्णवाचार्यों के द्वारा भिन्न भिन्न संप्रादायों की स्थापना की गयी। इन्होंने अपने दर्श से जनमानस को तथा कवियों को प्रभावित किया। इन संप्रदायों के उद्भव से उत्तर-दक्षिण में वैष्णव भक्ति का प्रचार जोर पकड़ा। दक्षिण में विष्णु के प्रमुख अवतार राम और कृष्ण भक्ति के प्रचार में इन्होंने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है तो उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति का अपूर्व प्रचार किया। पौराणिक युग में विकसित भागवत धर्म तथा नारायणी पंचरात्र धर्म इन वैष्णव आचार्यों के प्रयास से पुष्पित एवं पल्लवित हुआ है। इन वैष्णव आचार्यों में दक्षिण के रामानुज, निंबार्क, विष्णु स्वामी तथा मध्वाचार्य प्रमुख हैं। इन के द्वारा क्रमशः रामानुज संप्रदाय, निंबार्क संप्रदाय या सनकी संप्रदाय, विष्णुस्वामी संप्रदाय, माध्व संप्रदाय की स्थापना हुई है।

उत्तर भारत से विकसित वैष्णव धर्म भावना को दक्षिण के आलवार भक्तों ने हवा-पानी दिया। दक्षिण में आलवार भक्तों के कारण वैष्णव धर्म उत्कर्ष पर पहुंच गया। फिर आठवीं सदी में शंकाराचार्य तथा कुमारिल भट्ट के प्रचार से वैष्णव धर्म के प्रचार में गतिरोध पैदा हो गया। ऐसे में वैष्णव आचार्यों ने वैष्णव धर्म को प्रश्रय दिया। इन्होंने शंकर के मायावाद का खंडन करके पुनः वैष्णव भक्ति गंगा को प्रवाहित किया है।

रामानुजाचार्य ने ११ वीं सदी में श्रीसंप्रदाय की स्थापना की। शास्त्रीय दृष्टि से सगुण वैष्णव भक्ति का निरूपण करके इन्होंने अपने विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धांत की स्थापना की। आगे इन का शिष्य रामानंद उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। रामानुचार्य ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद, ब्रह्म सूत्र और गीता) पर भाष्य लिखकर प्रपत्ति को भक्ति का सर्वश्रेष्ठ अंग ठहराया है। और शूद्रो को भी भक्ति का अधिकारी माना। दक्षिण भारत के तेलुगु प्रदेश में इन का व्यापक प्रभाव रहा है। फिर १२ वीं सदी में दक्षिण में निंबार्काचार्य हुए। ये दक्षिण से उत्तर में जाकर बृंदावन में बसे। इन्होंने राधा कृष्ण की उपासना का प्रवर्तन किया है और अपना द्वैताद्वैतावादी सिद्धांत का प्रचार किया। माना जाता है कि इन्हीं से प्रभावित होकर १६ वीं सदी में स्वामी हरिदास ने हरिदासी या सखी संप्रदाय की स्थापना की। इन्होंने वेदांत पारिजात और दश श्लोकी के आधार पर श्रीकृष्ण को परम ब्रह्म माना और उनकी प्राप्ति के हेतु मुक्ति के दो भेद - ऐश्वर्यानंद प्रधान तथा सेवानंद प्रधान माने। सहस्रों संख्यओं में परिवेष्ठित राधा-कृष्ण के वामांग में विराजित है। इन्होंने आराध्य युगल की वंदना करके माधुर्य भाव का सूत्रपात किया। इस रूप में राधा-कृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढंग से प्रचार सब से पहले इन्होंने किया।

१३ वीं सदी में मध्वाचार्य ने अपने द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय की स्थापना की। उत्तर भारत के राधा-वल्लभ संप्रदाय का प्रवर्तक गौसाई हित हरिवंश पर इन का प्रभाव माना जाता है। चौथे आचार्य विष्णु स्वामी है। इन्होंने अद्वैतवाद को माया से रहित मानकर शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की है। इन्होंने राधा-कृष्ण की उपासना को प्रश्रय दिया। इसी परंपरा में आगे पुष्टि मार्ग के संस्थापक वल्लभाचार्य हुए। अष्टछाप की स्थापना इसी वल्लभाचार्य ने की है। दक्षिण के इन चारों संप्रदायों से प्रभावित उत्तर भारत में स्वतंत्र कृष्ण भक्ति संप्रदायों का विकास हुआ। उन में रामनंदीय संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, (गौडीय संप्रदाय) राधा -वल्लभ संप्रदाय, हरिदासी या सखी संप्रदाय, (टट्टी संप्रदाय) तथा वल्लभाचार्य के द्वारा स्थापित पुष्टि मार्ग प्रमुख हैं। इन के द्वारा उत्तर में कृष्ण भक्तिका एक सजीव वातावरण उत्पन्न हुआ। इसी वातावरण में अष्टछाप कवियों ने कृष्ण भक्ति की स्रोतस्विनी को प्रवाहित किया है।

13.4. वल्लभाचार्य का पुष्टि मार्ग और कृष्णभक्ति :-

उत्तर के कृष्ण भक्ति संप्रदायों में सब से प्रमुख संप्रदाय वल्लभ संप्रदाय है। १६ वीं सदी में वल्लभाचार्य ने ब्रज मंडल में कृष्ण भक्ति के प्रचार के लिए वल्लभ संप्रदाय की स्थापना की है। वल्लभ संप्रदाय के दार्शनिक पक्ष को शुद्धाद्वैत कहा जाता है। इसी को पुष्टि मार्ग भी कहा गया है। वास्तव में वल्लभाचार्य ने विष्णु स्वामी द्वारा प्रवर्तित इस संप्रदाय का पुनरुद्धार करके शुद्धाद्वैत मत की पुनस्थापना की। वल्लभ के अनुसार माया से मुक्त ब्रह्म जगत का मूल कारण है। वे नितांत शुद्ध हैं। इसलिए शंकर के अद्वैतवाद में शुद्ध को जोडकर शुद्धाद्वैत नाम दिया। उन के अनुसार ब्रह्म सर्वधर्म समन्वित है। वे सगुण हैं। श्री कृष्ण ही परम ब्रह्म और सच्चिदा नंद है। वे पुरुषोत्तम है। उनकी सारी लीलाएँ नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए क्रीडाएँ करते हैं। बृंदावन निंकुज, यमुना आदि सभी कुछ इसी वैकुंठ के अंतर्गत है। वल्लभ के अनुसार सच्चिदानंद बृह्म ही अविकृत भाव से जगत में परिणत हो जाता है। भगवान के सत-अंश से उत्पन्न पदार्थ जगत है परन्तु अविद्या के कारण जीवन के द्वारा कल्पित पदार्थ 'संसार' है। इस प्रकार जगत तो ब्रह्म तथा जीव के समान नित्य है परन्तु संसार अनित्य है। ज्ञान का उदय होने पर अविद्या से उत्पन्न संसार का नाश होता है।

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म अंशी है और जीव उसके अंश है। जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति हुई है। अत: ब्रह्म और जीव दोनों संसार की स्थिति में भी सत्य रूप हैं। वल्लभ के अनुसार जीव तीन प्रकार के हैं। १. शुद्ध २. मुक्त ३. संसारी। जीव की सब से उत्तम गति नित्य लीला सृष्टि में प्रवेश पाना है। वल्लभ ने जीव के अनुसरण के लिए तीन मार्ग बताये हैं। १. पुष्टि मार्ग - भगवान के अनुग्रह पर विश्वास रखते हुए नित्य लीला में प्रवेश पाना २. मर्यादा मार्ग - वेद की विधियों के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए स्वर्गादि लोक प्राप्त करना। ३. प्रवाह

मार्ग - संसार की स्थिति में रहकर ही मुख-प्रवाह की प्राप्ति में लीन रहना। स्पष्ट है कि शुद्धाद्वैतवादी वल्लभ संप्रदाय में राधा-कृष्ण उपास्य देव है। वल्लभ के द्वारा इस संप्रदाय में बाल कृष्ण की उपासना शुरु हूई। किंतु बाद में गोसाई विट्ठल के द्वारा भागवत के आधार पर माधुर्य-भाव की भक्ति का विकास किया गया है। वल्लभ संप्रदाय में राधा को मुख्यतया स्वकीया माना गया है।

हिंदी में कृष्णभक्ति काव्य का उद्भव और विकास :-

हिंदी में कृष्ण भक्ति काव्य का उदय आरंभिक काल में ही हुआ है। परन्तु इन के स्त्रोत और भी प्राचीन है। हिंदी कृष्ण काव्य कृष्ण भक्ति के निरूपण काव्य है। ये वैष्णव पुराण और वैष्णवचार्यों के द्वारा प्रतिपादित कृष्ण भक्ति के सैद्धांतिक पक्ष को जनसुलभ बनाने की दिशा में रचे गये काव्य कृष्ण काव्य है। हिंदी कृष्ण काव्य के लिए संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में विरचित कृष्ण काव्यों की समृद्ध परंपरा विरासत में मिली है। हिंदी कृष्ण-काव्य का व्यापक विकास भक्तिकाल में होने पर भी उस के पूर्व खास कर जयदेव, चक्रधर, नामदेव, विद्यापति, चंदबरदायी, उमापति, सुधांस अग्रवाल आदि के द्वारा कृष्ण भक्ति संबंधी सरस रचनाएँ रची गयी हैं। इन के श्रीकृष्ण श्रृंगार रस नायक, लोक नायक एवं पुरुषोत्तम है। भक्ति काल में विविध कृष्ण भक्ति संप्रदायों के विकास के साथ ही कृष्ण-काव्यों का लेखन बड़ी मात्रा में किया गया है। इस में अष्टछाप के कवियों का योगदान है ही, इन के अतिरिक्त गोपाल नायक, बैजूबावरा, पालण, विष्णुदास, भानुदास, नरसीमेहता, मीराबाई, रसखान आदि प्रमुख हैं। इन के अतिरिक्त संप्रदाय से संबद्ध खासकर निंबार्क संप्रदाय के श्री भट्ट, श्री हरिव्यास देव, परशुराम देव, हरिदास संप्रदाय के स्वामी हरिदास, बीठल बापुदेव, चैतन्य संप्रदाय के माधव दास जगन्नाथ, श्रीराम राय, गदाधार भट्ट, राधावाल्लभ संप्रदाय के गोसाई हित हरिवंश, हिरराम व्यास, ध्रुवदास, ललित संप्रदाय के श्री वंशी अली, प्राण-नाथी संप्रदाय के श्रीप्राण नाथजी, शुक संप्रदाय के स्वामी चरण दास जी आदि नहीं है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इन कवियों के द्वारा रचित कृष्ण काव्यों की वजह से ही हिन्दी का भक्ति काल स्वर्ण युग का अधिकारी बना है। भक्ति काल की अन्या भक्ति धारा की तुलना कृष्ण भक्ति धारा प्रबल रही है। इन कवियों ने श्री कृष्ण के बाल रूप, श्रृंगार रस रूप, परम ब्रह्म रूप तथा गोपाल रूप की प्रतिष्ठा की है। भक्ति काल के उपरांत रीतिकाल में श्रीकृष्ण मुख्यतया विलासी, श्रृंगार नायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए है। रीतिकाल के कवियों में गंग, रहीम, गोविंद दास, केशव दास, बिहारी, मतिराम, कृष्ण दास सेनापति, चिंतामणि, आलम, पद्माकर, ग्वाल कवि आदि प्रमुख हैं। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में फिर कवियों ने कृष्ण-काव्य रचे हैं। उन में भारतेन्दु, बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, अयोध्या सिंह, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथदास रत्नाकर, सत्यनारायण कविराज, गोप कवि, अनूप शर्मा, द्वारिकाप्रसाद मिश्र, रमाशंकर शुक्ल, धर्मवीर भारती आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में कृष्ण भक्ति को नया रूप दिया है।

13.5. पुष्टि मार्गीय कृष्णभक्ति और अष्टछाप के कवि :-

वल्लभ संप्रदाय के दार्शनिक पक्ष को शुद्धाद्वैतवाद कहा जाता है, तो साधना-पक्ष को पुष्टि-मार्ग। वल्लभाचार्य ने भागवत में उल्लिखित 'पोषणां तदनुग्रह:' उक्ति को अपना मूल मंत्र बना लिया है। जगत के त्रिविध दुखों से पीडित प्राणी की निवृत्ति के लिए आचार्यों ने ज्ञान, कर्म और भक्ति मार्ग बताये हैं। इन से भक्ति मार्ग में जीव ईश्वर के आगे सर्व सेवा करते हुए आत्म समर्पण करता है और उन के अनुग्रह पर पूरा विश्वास करता है। वल्लभाचार्य ने इसी मार्ग को अधिक प्राथमिकता देकर मर्यादा मार्ग की अपेक्षा भगवान की सेवा पर आधारित पुष्टि मार्ग का समर्थन किया है। इसे जाति वर्ण देश भेद आदि से परे जीवों की मुक्ति का सरल मार्ग बताया है। वल्लभ संप्रदाय का मूल ग्रंथ 'प्रस्थान चतुष्टय' में पुष्टि मार्गीय भक्ति मार्गीय सेवा की विपुल व्याख्या की गयी है। सांसारिक सुख-दुख की निवृत्ति तथा कृष्णानुराग की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्गीय सेवा पर बल दिया है। उन्होंने कृष्ण-सेवा के दो भेद किए हैं - १. क्रियात्मक सेवा २. भावात्मक सेवा। फिर क्रियात्मक सेवा के वित्तजा अर्थात धनसे सेवा और तनुजा अर्थात शरीर से सेवा, ये दो भेद हैं। ठाकुरजी का मंदिर बनवाने या श्रृंगारादि प्रसाधनों को जुटाने में आर्थिक योगदान वित्तजा सेवा है। ठाकुर जी के मंदिर में सफाई करना, ठाकुर जी के वस्त्र सीना, स्नान कराना, श्रृंगार करना आदि कार्य तनुजा सेवा कहलाते हैं। भावात्मक सेवा को मानसिक सेवा भी कहा जा सकता है। इस के भी दो प्रकार हैं। १. मर्यादा मार्गीय २. पुष्टि मार्गीय सेवा। वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्गीय सेवा को अधिक महत्व दिया है। मन, वचन और कर्म सब विधि से कृष्णार्पण और कृष्ण-लीलाओं में लीन होना ही पुष्टि मानसी सेवा है। इस सेवा विधि को जन सुलभ बनाने आम जनता भी कृष्ण की लीलाओं में तन्मय होकर आत्म समर्पण करने वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ दोनों ने चार चार मानसी सेवा के लिए जिन महात्माओं को चुना है वे ही अष्टछाप कवि कहलाते हैं। इन का मुख्य कार्य ठाकुर के मंदिर में नित्य सेवा विधियों के समय कीर्तन गाना तथा उस के लिए आवश्यक कीर्तन लिखना था। श्रीनाथ मंदिर में ठाकुर की आठ प्रकार की सेवाएँ की जाती हैं-वे इस प्रकार हैं-

१. मंगला : इस में कृष्ण को जगाने का, कलेऊ आदि खिलाने का और उसकी आरती का विधान है।

२. श्रृंगार : इस में कृष्ण के नहलाने, साज-सज्जा आदि का विधान है।

३. ग्वाल : यह कृष्ण का ग्वाल वेश बनाकर गो-चारण के लिए वन में भेजने की क्रिया है।

४. राज भोग : कृष्ण को भोजन कराना।

५. उत्थान : कृष्ण को नट-वेश में सजाना।

६. भोग : कृष्ण को फिर भोजन कराना।

७. संध्या आरती।

८. शयन।

इन आठ प्रहरों की आठ सेवाओं में भाग लेकर कीर्तन करना अष्टछापी कवियों की नित्य दिनचर्या रही है। ये कवि सेवा के अनुकूल कीर्तन रचकर सेवाविधान में भाग लेते थे। साथ ही कृष्ण लीलाओं का गायन करके तन्मय हो उठते थें। इस रूप में पुष्टि मार्गीय भक्ति के साथ इनका संबंध था।

13.6. अष्टछाप के कवि :-

भक्ति काल में कृष्ण भक्ति कवियों का विशेष महत्व है। फिर उस में भी अष्टछापी कवियों का महत्व है। पूरे भक्ति काल को भी उन्होंने प्रभावित किया था। मध्यकाल के विद्वेष, घृणा और पारस्परिक वैमनस्य के काल में इन कवियों ने पुष्टि मार्गीय भक्ति से जनता को रससिक्त और आनंदित किया था। इन कवियों के सत्प्रयासों से ही पूरा भारत कृष्ण भक्ति में रंग गया था। साथ ही पूरे भारत में कृष्ण-संकीर्तन की पवित्र मधुर और संगीतमय ध्वनि गूंज उठी। वास्तव में अष्टछाप वल्लभ संप्रदाय का साहित्यिक रूप है। इस के गठन में वल्ल्भाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी का विशेष योगदान रहा है। अष्टछाप को व्यवस्थित करने तथा स्थापित करने का श्रेय विट्ठलनाथ जी को ही दिया जाता है। उन्होंने चार अपने तथाचार अपने पिता वल्लभाचार्य के प्रिय शिष्यों यथा १. सूरदास २. परमानंद दास ३. कुंभन दास ४. कृष्णदास और ५. गोविंद स्वामी ६. छीत स्वामी ७. चुतर्भुज दास ८. नंददास को छांट कर अष्टछाप की स्थापना की है।

अष्टछाप की स्थापना काल मतभेद का विषय बना है। श्री कंठमणि शास्त्री के अनुसार अष्टछाप की स्थापना संवत १५९८ में हुई। किंतु श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र परीख के अनुसार इस की स्थापना संवत १६०२ को हुई। प्राचीन वार्ता रहस्य के एक चित्र से भी इस की पुष्टि होती है। अष्टछाप के कवियों में सबसे छोटे नंद दास के जन्म से भी इस की पुष्टि होती है। उन का जन्म संवत १५९० हुआ था। जन्मने के १६ साल के बाद ही उन्होंने वल्लभ संप्रदाय में दीक्षा ली होगी। यानी संवत १६१६ के आस पास। अत: इस के पूर्व ही अष्टछाप की स्थापना हुई होगी। यानी संवत १६०२ ही ज्यादा उचित माना जा सकता है।

अष्टछाप के इन आठों कवियों को श्रीनाथ जी के अंतरंग सखाओं के रूप में मान्यता है। ये उनकी नित्य लीला में सदैव उन के साथ रहा करते थें। यह भी विश्वास है कि श्रीनाथ जी के गोवर्धन पर्वत प्रकट होते ही उनकी लीला हेतु भूलोक में ये अवतरित हुए हैं। नित्य लीला के समय गाये जानेवाले इन के पद भक्तों को भगवत प्रेम में डुबोकर रससिक्त किया करते थें। प्रभु-लीला-गायन करना ही इन का प्रमुख कार्य क्षेत्र था। नित्य लीला के अवसर पर लीला-पदों का गायन करके अष्टछाप कवि भावात्मक मानसी भक्त बने हैं।

13.7. अष्टछाप के कवियों की भक्ति भावना :-

कृष्ण भक्ति कवियों में अष्टछापी कवियों का प्रमुख स्थान है। अष्टछापी कवि भक्ति पहले हैं, कवि बाद में। भक्ति के प्रायः सभी रूप इन के काव्य में मिलते हैं। विनय भक्ति, माधुर्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति, संख्य भक्ति और शांत भक्ति आदि सभी रूपों का आधार पुष्टिमार्गीय भक्ति है, जिस में प्रभु कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रहती है। मुख्यतया इन की भक्ति कृष्ण लीलागान के रूप में ही प्रकट हुई है। भक्ति भावना की अभिव्यंजना की दृष्टि से भी सूरदास, परमानंद दास तथा नंददास ही सर्व श्रेष्ठ ठहरते हैं।

13.8.1. सूरदास :-

साहित्य की श्रेष्ठता और भक्ति- भावना दोनों की दृष्टि से सूर दास अष्टछापी कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे साक्षात पुष्टि मार्ग के जहाज हैं। पुष्टि मार्गीय भक्ति और वल्लभ संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत के लिए वे प्रतिनिधि भक्त कवि हैं। कम उम्र में ही श्री कृष्ण भक्ति को समर्पित विरागी हैं। निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म की तुलना करके सगुण ब्रह्म का समर्थन करनेवाले सगुणोपासक हैं।

अविगत गति कछु कहत न आवे।

रूप रेखा-गुन-जाति बिनु मन निरालंब चक्रत धावै।

सब विधि अगम विचारहि तातै सूर सगुन पद गावै।

सूर के अनुसार कृष्ण ही परमब्रह्म है। उनका श्रीकृष्ण अविगत आदि अनंत अलख पुरुष अविनासी हैं। सूर की दृष्टि में पुष्टिमार्गीय भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मुक्ति है। सूरदास श्री कृष्ण की भावात्मक सेवा में विश्वास रखते हैं। उस मे भी मन, कर्म, वचन से श्रीकृष्ण लीला गान में तन्मय होकर मुक्ति प्राप्त करना उनका लक्ष्य है। सूर का मन ज्यादा बाल लीला वर्णन में रमा है। वात्सल्य रस की

अभिव्यंजना में सूर विश्व कवियों में ही अपना सानी रखते हैं। वल्लभ संप्रदाय में बाल लीलाओं को ही अधिक प्रतिष्ठा मिली है। सूर श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन करते करते रस विभोर हो उठते हैं। नंद के घर में नवनीत हाथ में लेकर घूमने वाले श्रीकृष्ण को देखने की अभिलाषा वे प्रकट करते हैं। यह भी कह उठते हैं कि ऐसा सुख सिर्फ नंद यशोदा को ही प्राप्त है। देवि-देवताओं को भी ऐसा आनंद दुर्लभ है।

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए।

नवधा भक्ति के सभी रूप सूर के काव्य में उपलब्ध होते हैं। कीर्तन, श्रवण, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन आदि भक्तिके रूप उनके पदों में हिलोरे मारते दिखाई पडते हैं। सूर को श्रीकृष्ण के चरणों में अतुल विश्वास है। पाद सेवा करने में ही अपने जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। श्रीकृष्ण के चरणों की महिमा अतुलनीय है-

चरन कमल बंदो हरिराई।
जा की कृपा पंगु गिरि लंघे अंधे को सब कुछ दरसाई।

प्रेमा-भक्ति की प्रतिष्ठा सूर की भक्ति में दिखाई पडती है। इस के निरूपण के लिए सूर ने भ्रमर गीत पद लिखे हैं। सूर के भ्रमर गीतों में ज्ञान, योग और कर्म मार्ग तथा निर्गुण की साधना पर सगुण पुष्टि-भक्ति की श्रेष्ठता का विधान है। सूर दास ने उद्धव को ज्ञान-योग-मार्गी निर्गुणवादी दिखाया है। सूर दास के कृष्ण स्पष्टत: उद्धव का ज्ञान - गर्व चूर करने तथा अपने सगुण ब्रह्म - रूप का बोध कराने और सगुण - भक्ति से प्रभवित कराने के लिए ही ब्रज भेजते हैं। सूरदास आरंभ में दास्य भक्ति के कवि थे। पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने के बाद सख्य भाव की उपासना स्वीकार करते हुए भी वे दास्य - भाव से विरत नहीं हो पाये थे।

13.8.2. नंददास :-

साहित्यिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अष्टछापी कवियों में सूरदास के बाद नंददास का स्थान आता है। अष्टछापी कवियों में ये सब से कनिष्ट माने जाते हैं। साहित्यिक समृद्धि नंद दास की सबसे बड़ी विशेषता है। नंददास भी श्रीकृष्ण के सगुणोपासक हैं। नंददास ने कई कथात्मक ग्रंथ भी फुटकर साहित्येक के अतिरिक्तअष्टछाप काव्य को दिए हैं। रूप मंजरी, रास पंचाध्यायी, भंवरगीत, रुक्मिणी मंगल आदि नंददास की ऐसी कथात्मक काव्य रचनाएँ हैं। सूरदास की तरह नंददास भी भक्त कवि हैं।

आरंभ में उनकी भक्ति भावना स्तुतिपूर्ण महात्म्य भक्ति थी। इसलिए उनके आरंभिक पदों में तथा 'अनेकार्थ मंजरी' में महात्म्यपूर्ण भक्ति का प्रकाशन हुआ है। नवधा भक्ति के श्रवण, कीर्तन, वंदन, पूजन, स्मरण, दास्य-भावना आदि की व्यंजना भी अनेकार्थ मंजरी और आरंभिक पदों में पाए जाते हैं। किंतु बाद में कवि की भक्ति-भावना असक्ति पूर्ण हो रही, जिसकी अभिव्यक्ति कृष्ण की विविध लीलाओं के रूप में हुई है। नवधा भक्ति भी लीला से संबद्ध होकर ही प्रकट हुई है। आसक्तिपूर्ण भक्ति नंद दास की मुख्य-भक्ति विशेषता है। नारद भक्ति सूत्र में आसक्तिपूर्ण भक्ति के २२ प्रकार बताये हैं। उन २२ प्रकारों में नंददास की भक्ति रूपासक्तिपूर्ण भक्ति है। नंद दास की यह बहुत ही रोचक है। नंद दास स्वयं गोपिका बन जाते हैं। कृष्ण-मुख-दर्शन की चटपटी, उस रूप-माधूरी के पान की कामना गोपियों को हरदम सताती है। नंद दास इस छवि पर स्थान स्थान पर बलि गए हैं। गोपी-रूप में नंददास की छिपी अंतरात्मा की मानसिक दशा का वर्ण चित्ताकर्षक है।

देखन दै मेरी बैरिन पलकै।

नंद नंदन मुख तै आलि बीज परत मानों ब्रज की सलकै॥

ऐसो मुख निरखन कों आलि कौन रची बिलपूत कमल कैं।

नंद दास सब जडन की इहि गति मीन भायें नहीं जाल कै॥

नारद भक्ति सूत्र की रूपासक्ति, परम विरहासक्ति, तनम्यासक्ति, कांता भक्ति ये चार असाक्तियाँ ही नंद दास की प्रेम भक्ति में मुख्य है। अन्य वात्सल्य भक्ति, सख्यासक्ति, दास्यासक्ति, निवेदनासक्ति आदि नंद दास में गैण ही हैं।

नंददास की भक्ति भावना में पुष्टि मार्गीय सेवा विधान दिखाई पडता है। वित्तजा और तनुजा जैसी क्रियात्मक सेवाओं में नंद दास मानसी सेवा में विश्र्वास रखते हैं। श्रीकृष्ण की नित्य लीलाओं में मुखयत : मंगला, शृंगार, ग्वाल, राज भोग दौरान भाग लेकर वे कीर्तन गाते थे। इन संदर्भी में कीर्तन गाकर वे अपने को धन्य मानते थे। ग्वाल सेवा का गोचरण संबंधी निम्न पद सुनने से ही बनता है-

बनतै आवत, आवत गौरी।

हाथ लकुटिया, गायन पाछे, मानों लगी ठगौरी॥

× × ×

याहि तै कल कानि हरि है, ओढै पीत पिछौरी।

चढि-चढि अटान लखति ब्रज बाला, रूप निरखि भई बौरी॥

नंददास जिन हरि मुख निरख्यौ तिनकौ भाग बडौरी॥

प्रेमा-भक्ति नंददास की भक्ति भाविना का मूल सिद्धांत है। भंवर गीत रास पंचाध्यायी विरह मंजरी आदि रचनाओं में इस का मार्मिक चित्रण मिलता है। इन में भगवन-विरह का बहुत संदुर प्रकाशन है। विरह की दशा में भक्त पूरी तरह तन्मय हो उठता है। गोपिकाएँ श्री कृष्ण के विरह में तन्मय हो उठती हैं। अपने अस्तित्व तक को वे भूल जाती है। यह प्रेम भक्ति की पराकाष्ठा है।

मोहन लाल रसाल की लीला इनहीं सो हैं।

केवल तन्मय भई कछु न जानति इल हीं सो हैं।

गोपिकओं का यह आत्म अमर्पण पुष्टि-भक्त के लिए ही आदर्श है। नंद दास में राधा-कृष्ण की युगल उपासिना भी मिलती है। नाम माला में कवि अपनी युगल-भक्ति प्रकट करता हुआ कहता है। यह युगल किशोर रूप सदा मेरे हृदय में निवास करें।

जमल, जुगल, जुग, द्वन्द्व, द्वै, उभय, मिथुन, बिबि बीच।

जुगल किशोर सदा बसौ, नंद दास के हिया।

नंददास ने 'रूप मंजरी' में ईश्वर-प्राप्ति के दो मार्ग बताए हैं। १. नाद मार्ग २. रूप मार्ग। पुष्टि-मार्गीय भक्ति रूप मार्ग की भक्ति है। क्यों कि पुष्टि-भक्त कृष्ण की लीलाओं में असके रूप-लावण्य और छवि पर मुग्ध होता है। तो भी लीला गान को हम इस भक्ति का नाद मार्ग कह सकते हैं। पुष्टि-भाक्त नाद मार्ग से रूप मार्ग की ओर बढ़ता है। सांसारिक विषयों से छुटकारा पाने के लिए पुष्टि-भक्त उन विषयों को ईश्वर पर ही आरोपित करता है। नंद दास ने अपनी लौकिक वासना प्रभु-अभिमुख कर दिया। इस प्रकार नंद दास ने प्रभु भक्ति का रसास्वादन दो प्रकार से किया-एक कृष्ण लीला का आनंद और दूसरा स्वरूपानंद। कृष्ण लीला आनंद में भी वैसे तो स्वरूपानंद सम्मिलित है। किन्तु गोपियों आदि की स्वरूपासक्ति में अपनी आत्मा को डाल कर उन्होंने रूप मार्ग की भक्ति प्रकट की है। नंददास की यह रूप-प्रेम मार्ग की भक्ति माधुर्य भाव के रूप में प्रकट हुई है। यहाँ नंददास सूर दास से अलग दिखाई पड़ते हैं। नंददास सिर्फ केशव का ही नाम लेकर उनके भजन करने में तथा उसके रूप निहारने में ही मुक्ति माननेवाले भक्त कवि हैं।

13.8.3 परमानंददास :-

अष्टछापी कवियों में परमानंददास का तीसरा स्थान है। वे सूर दास की तरह कृष्ण के वात्सल्य भाव से अधिक अनुरक्त हैं। वात्सल्य के भीतर की कितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण हो सकते हैं उतने परमानंद दास के पदों में देखा जा सकता है। परमानंद दास ने बालक-कृष्ण के मन मोहक रूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया है :

पांच पैजनियाँ सुनझुन बाजें, आंगन-आंगन खोलना।
कज्जर तिलक कंठ कठुला मनि पीतांबर को चोलना॥

परमानंद दास की वात्सल्य भक्ति भावना लगभग वैसी है जैसे सूर की है। उन के लिए कृष्ण ही ब्रह्म स्वरूप हैं। लीलानंद बांटने उन्होंने सगुण रूप लिया है। इसलिए श्रीकृष्ण का लीलागान ही परमानंद का मंत्र है।

आनंद की निधि नंद कुमार।
पर ब्रह्म नर भेष नराकृति जगमोहन लीला अवतार।
हंसत गोपाल नंद स्वरूप न जाने,
निर्गुण ब्रह्म सगुन धरि लीला ताहिन सुत करि माने॥

नंददास जैसी रूपासक्ति भक्ति परमानंद दास में भी मिलती है। ज्ञान, कर्म आदि मार्गों से रूप दर्शन को ही वे प्राथमिकता देते हैं।

सुंदर स्याम कमल दल लोचन देखि देखि सुख पाऊ।
जो ग्यानी ते ग्यान विचारो, जोगी ते जोग।
कर्मठ होय ते कर्म विचारो जे भोगी ते भोग।

अन्य अष्टछापी कवियों की तरह परमानंददास भी विश्वास व्यक्त करते हैं कि कृष्ण के सामीप्य का आनंद करोडों सुखों से भी अधिक है।

हौं नंद लाल बिना न रहौ।
मनसा वाचा और कर्मना हित की तोसौं कहौ।
तजि पद कमल मुक्ति जे चाहे ताके दिवस अंध्यारो।

इस के अतिरिक्त परमानंद दास में विनय और दास्य भाव की भक्ति अधिक दिखाई पड़ती है।

13.8.4. अष्टछाप के अन्य कवि :-

अष्टछाप के बृहत्रयी के बाद स्थान कुंभनदास का है। कुंभन दास मूलतः कीर्तनकार हैं। वल्लभाचार्य ने इन्हें श्री नाथ जी के मंदिर में कीर्तन करने की सेवा दी थी। कुंभन दास के फुटकर पदों में वात्सल्य, सख्य एवं दास्य भक्ति के उदाहरण मिलते हैं। दास्य भक्ति का निम्न पद श्रीकृष्ण के आकर्षक रूप को विकीर्ण करता है। भक्ति की अनन्यता का प्रकट करते हुए सिर्फ श्रीकृष्ण की शरण में जाने की बात कहता है।

हर्‌यो मन चपल चितवनी चारु।

तकित ताम रस लोहित लोचन निरखत नंद कुमारु।

बुद्धि विथकी, बल विकल सकल अंग, बिसर्‌यो गृह व्यवहारु।

कुंभन दास लाल गिरधर बिनु और नहीं उपचारु॥

अष्टछापी कवियों में कृष्णदास ऐश्वर्य वैभव के भक्त कवि हैं। उन के फुटकर पदों में लौकिक श्रृंगार और माधुर्य भक्ति के उदाहरण मिलते हैं। गोपिका के साथ मिलन के निम्न दृश्य से कृष्ण दास की माधुर्य भक्ति का अंदाजा लगाया जा सकता है।

पौढी रही सुख सेज सजीली दिनकर किरन झरोखहिं आई।

उठि बैठे लाल, विलोक वदन विधु निरखत नैना रहे लुभाई।

अधर खुले पलक ललन मुख चितवत मृदु मुस्कात हंसिलेत जंभाई।

कृष्ण दास प्रभु गिरधर नागर लटकि लटकि हंसि कंठ लगाई।

चतुर्भुजदास कुंभन दास के पुत्र हैं। वे भी श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन गानेवाले भक्त कवि हैं। उन के फुटकर पदों में बाल लीला, विरह और विनय भाव का चित्रण है। वात्सल्य भक्ति का निम्न पद उनकी अलंकृत भाषा का मार्मिक उदाहरण है।

ललित ललाट लट लटकतु लटकतु,

लाडले ललन को लडावै लोल ललना।

प्रान त्यारे प्रीति प्रतिपालित परम रुचि,

पल पल पेखति पौढाई प्रेम पलना।

दरपनु देखि देखि दंतियाँ द्वै दूध की,

दिखावति है दामिनी-सी दामोदर दुःख दलना।

सरोज सो सलोनो सिसु स्याम वन से जलधर,

चतुर्भुज दास बिनु देखे परै कलना।

गोविंद स्वामी के नाम से कोई काव्य रचना नहीं मिलती है। उनके फुटकर पदों में कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन मिलता है। खासकर बाल लीलाओं का अधिक वर्णन इन में मिलता है। वात्सल्य भक्ति इनकी विशेषता है। इस के अतिरिक्त राधा-कृष्ण युगल उपासना गोविंद स्वामी में मिलती है। माधुर्य भक्ति के निम्न पद में राधा-कृष्ण के प्रेम में मुरली को सौतिन के रूप में देखा गया है। सखि कृष्ण से कहती है -

बरजत क्यों जु नहीं हो लालन अपनी मुरली कों

हमारी सखीन कौं सर्वसु चुरावत।

स्त्रवन द्वार ह्वै पैठति, चित भंडार खोलति

निधरक ह्वै धीरज ध्यान लै आवत।

रोम पुलकि आगे, अंसुवा पुकार लागे।

तेअ अंत नहिं पावत।

गोविंद प्रभु भले जु भलोई न्याव देख्यो-

ता पर रीझि अधर मधु प्यावत॥

अष्टछापी कवियों में छीत स्वामी का अन्यतम स्थान है। छीतस्वामी के फुटकर पदों में कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन मिलता है। खास कर रास लीला और गोचारण से संबंधित प्रसंग छीतस्वामी की महत्वपूर्ण विशेषता है। ग्वाल सेवा के समय वे सुंदर गीत गाया करते थें। माधुर्य भाव एवं सख्य भाव उनकी भक्ति की अन्यतम विशेषताएँ हैं। निम्न पद उन की सख्य भक्ति का प्रतिनिधि उदाहरण है। गोचारण लीला में गाय श्री कृष्ण से परिवेष्ठित हैं। इस दृश्य को कवि वैकुंठ से कम नहीं मानता है।

आगे गाई पाछे गाई इत गाई उत गाई,
गोविंद को गाइन में बसि बोई भावै,
गाइन के संग छावै, गाइनि में सचु पावै,
गाइनि की खुर-रज अंग लपटावै,
गाइन सौं ब्रज छायौ, वैकुंठ बिसारायौ,
गाइन के हित गिरि कर लै उठा वै॥

छीतस्वामी की माधुर्य भक्ति का निम्न उदाहरण अतिमनोहर बन पडा है।

नगरी नवरंग कुंवरी मोहन संग नाचै,
कटि-तट-पट किंकिनि कल नूपुर रव रुनझन करै,
विनिर्तत करत चपल चरनपात घात सांचे॥
उदित मुदित गगन सघन, घोरत घन भेद भेद,
कोकिल कलगान करत पंचम सुर बांचे।
छीत स्वामी, गोवर्धन नाथ हाथ वितरत रस
वर विलास बृंदावन वास प्रेम रांचे॥

अष्टछापी कवियों के इस परिचय से एक सत्य प्रमाणित हो जात है कि कृष्ण भक्ति धारा मध्य काल की सारी भक्ति धाराओं में सर्वाधिक लोकप्रिय धारा है। अष्टछापी कवियों ने इस भक्ति धारा को अनुपम योगदान दिया है। हिन्दी में अष्टछापी कवि और कृष्ण भक्ति एक दूसरे के पर्यायवाची ही बने हैं। श्री कृष्ण को आराध्य बनाकर उनकी उपासना करना ही कृष्ण भक्ति है। कृष्ण की लीलाओं एवं महात्म्य के प्रति आकर्षित होकर उन के प्रति सर्वसमर्पित होना कृष्ण भक्ति है। कृष्ण भक्ति के आदि स्त्रोतों पर विचार करने पर पता चलता है कि वैदिक देवि-देवताओं में कृष्ण की गिनती नहीं हुई है। खास कर महाभारत काल में कृष्ण की तथा उस के प्रति भक्ति की अधिक चर्चा हुई है। इसी काल में कृष्ण के वासुदेव रूप, गोपाल कृष्ण रूप, पुरुषोत्तम रूप का विकास हुआ है। महाभावगवत ने श्रीकृष्णावतार के प्रचार में चार चांद लगा दिए हैं। विष्णु पुराण आदि से लेकर जैन पुराणों तक में श्री कृष्ण की चर्चा मिलती है। पालि-प्राकृत अपभ्रंश भाषा के स्त्रोतों में कृष्ण भक्ति का

उल्लेख है। दक्षिण में दिव्य प्रबंधम के माध्यम से वैष्णव भक्ति खूब चर्चित हुई है। विष्णु के अवतारों में राम को छोड़कर कृष्ण की अधिक चर्चा इसी के द्वारा हुई है। मध्यकाल के रामानुजचार्य के श्री संप्रदाय, मध्वाचार्य के द्वैत संप्रदाय, निंबार्कचार्य के निंबार्क संप्रदाय, विष्णु स्वामी द्वैताद्वैत संप्रदाय आदि ने कृष्ण भक्ति के दार्शनिक पक्ष को सुदृढ बनाया है। इन से प्रभावित होकर ही उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति के विशिष्ट संप्रदाय चल पड़े हैं। उन में वल्लभ संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, हरिदासी संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय प्रमुख हैं। इन सभी संप्रदायों ने अपने अपने दार्शनिक विचारों से कृष्णभक्ति को सर्वसुलभ तथा सर्व शक्तिमान बना दिया है।

14. रामभक्ति शाखा - प्रमुख कवि और उनका काव्य

हिन्दी भक्ति काल की सगुण भक्ति की दो मुख्य शाखाएं हैं। 1. रामभक्ति शाखा एवं 2. कृष्ण भक्ति शाखा। दोनों सगुण भक्ति की शाखाएं होने के बावजूद दोनों के आराधना भिन्न हैं। एक में राम की उपासना की जाती है तो दूसरे में कृष्ण की आराद्य के स्तर पर भिन्नता होने के बावजूद सगुण भक्ति की सारी विशेषताएं दोनों में पायी जाती है। सगुण भक्ति ब्रह्म के गुणादि में विश्वास रखती है। उनकी लीलाओं में विश्वास रखती हैं। अवतार वाद में विश्वास रखती है। राम और कृष्ण की भक्ति वैष्णव भक्ति के अंतर्गत आती है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से वैष्णव भक्ति का उदय अति प्राचीन है। वेदों के साथ इसे जोडा जाता है। वैदिक काल के बाद वैष्णव भक्ति का क्रमिक विकास हुआ है। ई. पूर्व काल में दक्षिण में इस का पल्लवन हुआ है। तमिल के आळवर भक्तों ने इसे अधिक विकास किया है। तदू पशंत विविध संप्रदायों ने इसे दार्शनिक स्तर इसे मजबूत किया है। इन में रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय की अनुपम भक्ति रही है। रामानुजाचार्य तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप वैदिक धर्म की पुर्नस्थापना के रूप में श्री संप्रदाय तथा विशिष्ट द्वैत दर्शन की स्थापना की है। शंकर अद्वैतवाद के विरोध में रामानुजाचार्य ने राम और कृष्ण की उपासना के लिए आवश्यक दर्शन की स्थापना की।

उत्तर में राम भक्तिशाखा की नींव इसी श्री संप्रादाय के कारण रखी गयी है। 14 वीं सदी में श्री संप्रदाय में राघवानंद हुए। रामानंद ने इन्हीं से शिक्षा ली है। बाद में रामानंद ने भारत भर की यात्रा की धर्म का प्रचार किया । इन के सत्प्रयासों से उत्तर भारत में निगुण एवं सगुण दो भक्ति धारा ओं का विकास हुआ है। रामानंद के भक्ति दर्शन ने एक ओर निर्गुण कवि कबीर का जन्म दिया तो दूसरी अनन्य राम भक्त सगुण भक्ति के तुलसी दास को। रामानंद से पूर्व ज्ञान देव तथा नाम देव भी राम भक्ति का प्रचार कर चुके थे। तुलसी ने राम भक्ति को उच्चतम शिखरों तक पहुँचा दिया है।

14.1 रामभक्ति शाखा का उद्‌भव और विकास :-

वैष्णव भक्ति में रामोपासना कृष्णोपासना से अतिप्राचीन मानी जाती है। वैदिक काल से ज्यादा पौराणिक काल में इसे बल मिला। वाल्मीकि ने रामकथा को लोकोन्मुख बना दिया। साथ ही जन-जन में राम कथा को पहुंचा दिया। महाभारत में भी रामोपख्यान है जो वाल्मीकि रामायण से ही साम्य रखता है। बौद्ध जातक कथा और जैन साहित्य में भी राम कथा प्राप्त होती है। परन्तु इन में राम कथा परिवर्तित रूप में पायी जाती है। कुछ आलोचकों के अनुसार राम को भगवान मानने की भावना पांचवी

शताब्दी के बार की है। डॉ. हरदेव बाहरी के अनुसार राम का पूर्ण रूप गुप्त काल में विकसित हुआ। रामानुजाचार्य के प्रचारों से राम भक्ति को बढावा मिला। उन के श्री संप्रदाय में ही राघवा नंद हुए। राघवानंद की शिष्य परंपरा में रामानंद हुए। रामानंद के प्रचारों से उत्तर भारत में राम भक्ति का विकास हुआ।

तुलसीदास के उदय से राम भक्ति को विशेष महत्व मिला। तुलसी के पहले का रामभक्ति साहित्य प्राय: अप्रकाशित है। रामनंद का 'रामरक्षा स्रोत्र' ही प्राय: प्राप्त होता है। तुलसी के पहले राम भक्ति परंपरा में विष्णु राम का नाम आता है। इन्हें वाल्मीकी रामायण का हिन्दी रूपांतर कर्ता माना जाता है। इन के अतिरिक्त ईश्वरदास की राम भक्ति से संबद्ध दो रचनाएं प्राप्त होती है – भरत मिलाप तथा 'अगंद पैज'। जैन कवियों ने राम कथा को थोडा बदल कर प्रस्तुत करने पर भी राम काव्य लिखे हैं। इस दृष्टि से मुनिलावशय की 'रावण मंदोहरी संवाद' जिनराम शूरि की 'रावण मंदोदरी संवाद' बहत जिनदास की रामचरित या राम रास 'हनुमंत रास', ब्रहत राय मल्ल की 'हनुमंत गामी कथा' सुंदर दास की 'हनुमान अप्ति' उल्लेखनीय है।

अग्रअली या अग्रदास के आगमन से राम भक्ति शाखा में नवीन मोड आता है। अग्रदास ने जान की की एक सखी की भावना से राम – भक्ति की है। बाद में इन्हीं के नाम राम रसिक संप्रदाय का विकास हुआ है। अग्रदास की 'रामाष्टायाम' तथा 'रामध्यान मंजरी' इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। 'रामाष्टायाम' में सीता वल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का वर्णन है। इस में राम के ऐश्वर्य के साथ साथ द्वादश लीला, संयोग – वियोग, मधुर-रति आदि का वर्णन किया गया है। नाभादाय का 'अष्टयाम' भी इसी से प्रभावित है। अग्रअली की यह मधुर उपासना तुलसी के मर्यादावाद के सामने बहुत समय तक दबी रही, परन्तु सौ वर्ष बाद यह धारा बडे वेग से बह निकली। तदूपरांत हिन्दी का प्राय: सारा राम भक्ति साहित्य उससे सरोबोर हो गया। राम भक्ति के इस रसिकता की भावना कृष्ण भक्ति के प्रभाव के कारण आयी है। इसी परंपरा में स्री जीवाराम, कृपानिवास, राम चरण दास हुए इन्होंने इस रसिक संप्रदाय में कुछ परिवर्तन किए हैं। इनके अतिरिक्त प्राणचंद चौहान, हृदयराम, केशव, सेना पति, प्रियदास, कला निधि आदि इसी राम रसिक भक्ति धारा के हैं।

आधुनिक काल में रामकथा के आधार पर काव्य रचे गए हैं। वे काव्य अधिकांश आधुनिक दृष्टि से रचे गए हैं। खासकर राम को अवतारवादी न मान कर मानव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आधुनिक काल के राम भक्त कवियों में रामचरित उपाध्याय, अयोध्या सिंह उपाध्याय मैथिली शरण गुप्त तथा निराला उल्लेखनीय हैं। इस रूप में हिन्दी राम भक्ति को बढावा मिला है। समय समय

पर राम के स्वरूप पर थोडा बहुत परिवर्तन हुआ है। इस संदर्भ में डॉ. मातापसाद गुप्त के निम्न विचार उल्लेखनीय है – ''हिन्दी रामभक्ति धारा में अनेक कवि हुए। किन्तु रामभक्ति धारा साहित्यिक महत्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियों और तुलसी में अंतर तारागण और चंद्रमा का नहीं है, तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश में रहते हुए भी चमक न सके। इसलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यत: तुलसीदास में ही केन्द्रित करना होगा।'' उनके अनुरूप रामभक्ति के विकास क्रम में राम के तीन रूप विकसित हुए हैं। वे हैं ऐतिहासिक, साहित्यक एवं सांप्रदायिक।

14.2 राम भक्ति काव्य की प्रवृत्तियां :-

रामभक्ति काव्यों में 'रामचरित मानस' का ही महत्वपूर्ण स्थान है। वह रामभक्ति की प्रतिनिधि रचना है। रामभक्ति की सारी विशेषताएँ उस में पायी जाती है। आदर्श, जीवन मूल्य आदि दृष्टि से ही वह अनुपम कृति है। तुलसी के बाद भी अनेक रामभक्त कवि हुए। फिर भी साहित्यक श्रेष्ठता की दृष्टि से 'मानस' को ही महत्त्व दिया जाता है। हिन्दी से रामानंद के प्रभाव से राम भक्ति काव्यों का सूत्रपात हुआ है। हिन्दी के राम काव्यों में दिखाई पडने वाली प्रवृत्तियां निम्नांकित हैं।

14.2.1 राम का स्वरूप :-

राम काव्यों का आराधक राम है । परन्तु राम काव्यों के विकास के साथ राम को जोड़कर देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पूरे दौरान राम का स्वरूप एक जैसा नहीं है। यहाँ तक कि राम भक्ति शाखा के प्रत्येक कवि अपनी दृष्टि के अनुकूल राम के स्वरूप को ग्रहण किया है। जैसे तुलसीदास ने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम और अवतारवादी के रूप में देखा है तो अग्रदास तथा केशवदास अवतारवादी के रूप में देखा है तो अग्रदास तथा केशवदास ने राम में रसिक पुरुष को देखा है । उसी प्रकार आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त, निराला ने राम में एक साधारण संघर्षरत मानव को देखा है। दृष्टिपरक ऐसी अंतर की वजह से राम के विभिन्न रामभक्ति शाखा में दिखाई पड़ते हैं । फिरभी सर्वाधिक प्रचलित रूप तुलसी के द्वारा प्रतिपादित रूप ही है । उनका राम विष्णु के अवतार हैं और परम ब्रह्म स्वरूप हैं । उन्होंने पाप विनाश और धर्मोद्दार के लिए अवतार लिया है । कृष्णकाव्य में प्रतीकात्मकता है । कृष्ण परमात्मा स्वरूप है और गोपिकाएँ आदि सर्वात्मा स्वरूप है । परन्तु राम भक्ति में भक्त साधक है । भक्ति में लीन रहता है । वह किसी का प्रतीक नहीं है । अत: राम भक्ति काव्य में प्रतीकवाद नहीं है । राम विष्णु का अवतार है और भक्त कवि मानव रूप में उनका साधक है ।

तुलसी के राम में अगली शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। वे लोक रक्षक है। मर्यादा पुरुषोत्तम है । आदर्श राजा और आदर्श भाई तथा पुत्र है ।

14.2.2. धार्मिक समन्वयात्मकता :-

राम भक्ति शाखा के पल्लवन के समय धार्मिक परिस्थिति विषम थीं । जैन, बौद्ध धर्मों के साथ संघर्ष था ही । इसके अतिरिक्त हिन्दू वैदिक धर्म में भी शैव, शाक्त तथा वैष्णव धर्मों के बीच भी वैमनस्य था । एक धर्म दूसरे धर्म पर किचाड़ उछाला करता था तथा एक धर्म दूसरे धर्म की कमजोरी की तलाश करता था । ऐसे राम भक्ति के कवियों ने विविध धर्मों के बीच में अहिष्णुता स्थापित करने की सराहनीय कोशिश की है । राम भक्ति काव्यों में सिर्फ राम की उपासना ही नहीं कृष्ण, शिव, गणेश आदि देवताओं की स्तुति की गयी है । 'मानस' में तुलसी ने सेतुबंध अवसर पर राम के द्वारा शिव की पूजा करवाया है । राम भक्ति काव्य में यद्यपि रामभक्ति को श्रेष्ठ बताया गया है । फिर भी दूसरे धर्मों के प्रति भी उदारता भरती गयी है। राम भक्ति काव्य में सगुण और निर्गुण वाद की एकरूपता का भी समर्थन किया गया है ।

14.2.3 लोककल्याण की भावना :-

रामभक्ति काव्यों में लोक कल्याण की भावना अपने उच्च स्वर में दिखाई पड़ती है । इन काव्यों में मानव जीवन के लिए अनुकूल अनेक आदर्शों की स्थापना की गयी है । गृहस्थ जीवन की उपेक्षा न करते हुए लोकसेवा के लिए आवश्यक मूल्यों का समर्थन राम भक्ति कवियों ने किया है । राम काव्य में जीवन का मूल्यांकन आचार की कसौटी पर किया गया है । स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, अडोसी-पडोसी आदि सामाजिक संबंधों के लिए भी आदर्श खडे किए गए हैं ।

14.2.4 भक्ति का स्वरुप :

ईश्वर और भक्त के बीच के संबंधों के आधार पर भक्ति के अनेक प्रकार बताये गये हैं । जैसे सख्य भक्ति, मधुर भक्ति! राम काव्यों में व्यक्त भक्ति राम के शील, शक्ति और सौंदर्य पर मुग्ध है । राम भक्त कवि ने सामान्यतया राम के साथ अपने संबंध को सिर्फ सेवक माना है । उन्होंने केवल-सेव्य भाव को स्वीकार किया है । तुलसी का यही विचार है -'सेवक सेव्य भाव बिनु, सब न तरिय उरगरि।' इसके अतिरिक्त राम भक्त कवि ज्ञान और कर्म को अलग अलग महत्व स्वीकार करते हुए भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं । रामभक्त कवियों ने नवधा भक्ति का भी समर्थन किया है । राम भक्त कवि विशिष्टाद्वैतवादी है । इसलिए इनके लिए जीव भी असत्य है क्योंकि वह ब्रह्म का अंश है । जीव और

ब्रह्म में अंश-अंशी का भाव है । राम भक्ति काव्य में साधनात्मक भक्ति एवं कर्मकांड के लिए कोई स्थान नहीं है। भक्ति के प्रति इस विशिष्ट दृष्टिकोण की वजह से राम भक्ति अधिक प्रचलित हुई है ।

14.2.5 मधुर भक्ति :

राम काव्यों में व्यक्तिजत राम मर्यादा पुरुषोत्तम है। नैतिक मर्यादाओं के आदर्श मूर्ति है। नैतिक मूल्यों के रक्षक है। राम का यही प्रचलित रूप अधिकांश राम काव्यों में प्राप्त होता है। इसलिए राम काव्यों में मधुर रस का समावेश नहीं हो सका परन्तु 16 वीं सदी के बाद में काव्य में कृष्ण भक्ति की प्रेम - लीलाओं के सामान राम काव्यों में भी मधुर रस का प्रवेश हुआ। इस में राम और जानकी के प्रणय, विलास, हास, वन और जल विहारों तथा काम-केलियों का निशंक भाव से चित्रण करना शुभ हो गया। यह तुलसी के मर्यादावाद के अनुपात में विरोधी तत्व के रूप में उभरा है। इस संप्रदाय के कवियों को राम भक्ति संप्रदाय के कवि कहा गया है। इस संप्रदाय के प्रयासों से राम भक्ति में मधुर भक्ति का समावेश हो गया है। आगे इस संप्रदाय का वैसा समुचित विकास नहीं हो पाया वैसा तुलसी की परंपरा का हुआ।

14.2.6 रस निरूपण :-

रामकाव्य मानव जीवन के आदर्श पक्ष का उद्घाटन करते हैं। नैतिक आदर्श एवं नैतिक मूल्यों का समर्थन व अमल करना उनका उच्चादर्श है। भक्ति के स्तर पर राम भक्ति काव्यों में सेवक - सेव्य भाव ही अधिक उद्घाटित हुआ है। इसलिए रामभक्ति काव्य में रस पोषण एवं रस निरूपण के क्षेत्र में सीमाएं हैं। सेवक - सेव्य भाव से संबंध से रखनेवाला निर्वेद भाव तथा उससे संबद्ध शांत रस ही रामभक्ति काव्यों का मुख्य रस माना जा सकता है। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप की प्रतिष्ठा के कारण राम काव्यों में श्रृंगार रस के संयोग एवं वियोग पक्षों का उद्घाटन नहीं हो सका है। परन्तु अग्रदास, सेनापति तथा केशवदास जैसे कवियों में श्रृंगार रस का यथेष्ट परिपाक हुआ है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में नव रसों का परिणक होने पर भी शांत रस ही मुख्य रूप से प्रतिष्ठित हुआ है। इस के अतिरिक्त राम के ब्रह्मतत्व के निरूपण के कारण अद्भुत एवं भक्ति रस का भी परिपाक हुआ है।

14.2.7 चरित्रांकन :-

राम भक्ति के काव्यों में चरित्रांकन एक विशेष तत्व है। रामकाव्यों में सृजित सभी पात्र आदर्शवान है। सभी आचार एवं लोक मर्यादा को माननेवाले हैं। सभी पात्र सात्विक गुणों के हैं। सभी पात्रों में द्वन्द का चित्रण तो है। परन्तु अंत में असाम पर सत्य तथा बुराई पर अच्छाई की जीत रशीयी

गयी है। त्याग, क्षमता और सेवा जैसे भावों को मात्र प्राथमिकता देते हैं। ये तीनों ही भाव मानवीय मूल्यों के उच्च रूप है। पात्रों से इन का समन्वय करवाकर राम भक्ति शाखा के कवियों ने उनका उच्चतम चरित्रांकन किया है। पात्रों के चरित्रांकन में तुलसीदास सभी कवियों के लिए आदर्श रहे हैं।

14.2.8 अभिव्यंजना पक्ष :-

रामकाव्य साहित्यक गरिमा के काव्य हैं। तुलसीदास अपनी काव्य प्रतिभा से काव्य शास्त्र के लिए ही आदर्श खडा किया है। तुलसीदास की कार्रती प्रतिमा अद्भुत है। उनके काव्य का अभिव्यंगना पक्ष अपने आप में एक नमूना है। काव्य रूप, रस, छंद, अलंकार और भाषा शैली की दृष्टि से तुलसी महाकवि है। तुलसी ने साहित्यक परंपरा का अनुकरण करते हुए भी नए प्रमाण प्रस्तुत किए है। अपने समय में प्रलचित सभी काव्यों रूप पर तुलसीदास अधिकार रखते थे। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए विविध काव्य रूपों को अपनाया। महा काव्य, गीतिकाव्य, खंड काव्य, नहछू काव्य, मुक्तक का काव्य आदि सभी काव्य रूप उनकी रचनाओं में प्रयुक्त हुए है। राम भक्ति शाखा ने कवियों ने लगभग सभी प्रलचित छंदों का प्रयोग किया है। छप्पय, दोहा - चौपाई, सोरठ, कुंडलियां आदि प्रचलित छंदों का समावेश राम काव्यों में हुआ है। अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से भी राम भक्ति के कवि अपनी गरिमा में बनाये रखने में सक्षम है। भाषा की दृष्टि से राम काव्यों की मुख्य भाषा अवधि है। केशवदास ने राम - चंद्रिका में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। तुलसी के बाद राम रसिक संप्रदाय के कवियों ने ब्रज भाषा का प्रयोग किया है। तुलसी ने अवधि और ब्रज का प्रयोग किया है। इस रूप में राम काव्यों में अपने समय की दोनों काव्य -भाषाओं का प्रयोग हुआ।

इस प्रकार रामभक्ति शाखा के कवियों के राम काव्य अत्यंत समृद्ध हैं। अपने आराध्य राम को स्थापित करने में वे अत्यंत सफल हुए। इन्होंने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को जन जन तक पहुंचायी हैं। जीवन में लोक मर्यादाओं एवं आदर्शों की स्थापना के लिए अपनी काव्य-प्रतिभा का उपयोग किया है। फिर भी तुलसी जैसे महाकवि को छोडकर साहित्यक गरिमा रखने वाली कवि इस शाखा में कम हुए। फिर भी हिन्दी के भक्ति काल में राम काव्यों ने अपने स्थान को बनाये रखा है।

14.3. रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि और उनका काव्य :-

इस में दो मत नहीं हो सकते हैं कि रामभक्ति शाखा के कवियों में तुलसी दास सर्वाधिक प्रमुख कवि हैं। उनका परिचय प्राप्त करना रामभक्ति शाखा से समग्र परिचय प्राप्त करना ही है।

14.3.1 महाकवि तुलसीदास :-

अत: साक्ष्य एवं बद्धि: साक्ष्य दोनों से तुलसी दास का समग्र जीवन वृत्त प्राप्त होता है। मूल गोसाई चरित के अनुसार तुलसी की जन्म तिथि सं. 1554 की श्रावण शुक्ला सप्तमी है। परन्तु जनश्रुत के अनुसार पं. रामगुलाम द्विवेदी ने तुलसी का जन्म संवत् 1589 माना है। डॉ. ग्रियर्सन एवं डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने भी इसी को माना है। तुलसी के जन्म स्थान के बारे में भी मत भेद है। राजापुर और सोरो तुलसी के जन्म स्थान माने गए हैं। अत: साध्य के अनुसार तुलसी की माता का नाम हुलसी है–

रामदि प्रिय पावनि तुलसी सी,

तुलसी दास हितहिय हुलसी।

तुलसी के पिता का नाम आत्माराम था। जनश्रृति के अनुसार तुलसी का विवाह दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था । तुलसी के दीक्षित गुरु का नाम बाबा नरहरिदास है । राजा तोड़र मल, रहीम और राजा मानसिंह तुलसी दास के मित्र थे । तुलसी के स्वर्गवास की तिथि सर्वमान्य है ।

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।

श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥

तुलसीदास के व्यक्तित्व के बारे में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी के द्वारा व्यक्त विचार इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। ''तुलसी का महत्व बताने के लिए विद्वानों ने अनेक प्रकार की तुलनामूलक उक्तियों का सहारा किया है। राभादास ने इन्हें कलिकाल का वाल्मीकि कहा था, स्मिथ ने उन्हें मुगल काल का सबसे बडा व्यक्ति माना था। ग्रियर्सन ने इन्हें बुद्धदेव के बाद सबसे बडा लोकनायक कहा था और यह तो बहुत लोगों ने बहुत बार कहा है कि उन की रामायण उत्तर भारत की बाइबिल है । इन सारी उक्तियों का तात्पर्य यही है कि तुलसीदास असाधारण शक्ति शाली कवि, लोक नायक और महात्मा थे।''

रचनाएँ :-

तुलसी की रचनाओं के संदर्भ में भी मतभेद हैं। पं. रामगुलाम द्विवेदी के अनुसार 12, डॉ. भगीरथ प्रसाद दीक्षित के अनुसार 14, शिवसिंह सेंगर के अनुसार 18, ग्रियर्सन के अनुसार 11, मिश्र बन्धुओं के अनुसार 25, राम नरेश त्रिपाठी के अनुसार 30 ग्रंथ प्रामाणिक हैं । इन मत भेदों के बावजूद

तुलसी की निम्न रचनाएं अधिक प्रामाणिक मानी जाती हैं । कालक्रम के अनुसार उनकी रचनाएं निम्न प्रकार के हैं।

1. वैराग्य संदीपनी :-

रचना काल सन् 1563 माना जाता है। यह 62 दोहों का छोटा ग्रंथ है। इस में मंगलाचरण के बाद संत स्वभाव, संत महिमा और शांति का वर्णन दोहा - चौपाई शैली में किया गया है । इस के कुछ दोहे दोहावली में भी दिखाई पड़ते हैं।

2. रामलला नहछू :-

यह 20 छंदो वाला छोटा ग्रंथ है । इसका रचना काल - सन् 1686 है । इस में एक लोककल नहछू का वर्णन पाया जाता है । यह लोककला जनेऊ अथवा विवाह के अवसर पर खेली जातीहै । इस में यह लोक कला राम के जनेऊ अवसर पर खेली गयी है।

3. रामाज्ञा प्रश्नः :-

इस का रचनाकाल सन् 1574 माना जाता है । इस में सात सर्ग है । फिर प्रत्येक सर्ग में सात सात सप्तक है, अंत में सगुन विचारने की पद्धति बतायी गयी है । इस में दोहा छंद का प्रयोग किया है । इस में लग भग पूरी राम कथा कही गयी है । इस में कुल 348 दोहे है। राम शलाका एवं रघुवर शला का इस के दूसरे नाम हैं।

4. बरवै रामायण :-

इस का रचनाकाल 1612 ई. है । यह बरवै छंदों में लिखगया रामायण काव्य है । कुल 69 बरवै छंद हैं । यह एक मुक्तक काव्य है। कवि ने इस में सीता के रूप वर्णन, राम के शील वर्णन तथा सेना वर्णन पर विशेष ध्यान दिया है।

5. पार्वती मंगल :-

इस का रचनाकाल 1585-1586 ई. माना जाता है । इस में 164 छंदों में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन किया गया है । इस के कथानक पर कालि दास के 'कुमार संभव' का प्रभाव माना जाता है।

6. जानकी मंगल :-

इस का रचना काल ई. 1586 के आसापस माना जाता है । इस में 216 छंदों में राम और सीता के विवाह का वर्णन किया गया है । सीता और राम के विवाह - वर्णन में कवि ने लोक - रीतियों के वर्णन में विशेष रुचि दिखाई है । मानस की कथा वस्तु से यह कुछ भिन्न है । इस में पुष्पवाटिका प्रसंग तथा धनुष यज्ञ के अवसर पर परशुराम का आगमन नहीं होता है।

7. श्रीकृष्ण गीतावली :-

इस का रचना काल सन् 1559 अथवा सन् 1601 माना जाता है । यह 61 पदों का लघु गीति काव्य है । इस में श्रीकृष्ण की महिमा का गायन है । इस में बाललीला, रूप वर्णन , विरह वर्णन और उद्दव गोपि संवाद आदि प्रसंगों से संबंधित पर मिलते हैं।

8. गीतावली :-

इस का रचना काल 1571 से 1603 तक भिन्न भिन्न तिथियाँ माना जाता है। यह एक गीति काव्य है । इस में सात कांडों में पूरी राम कथा कही गयी है। इस की भाषा ब्रज भाषा है । मानस से अलग इस में राम के सौंदर्य का निरूपण किया गया है । इस में श्रृंगार, हास्य, करुणा रसों का समावेश है।

9. दोहावली :-

इस का संग्रह काल सन् 1583 माना जाता है । इस में 573 छंद है। इस का मुख्य विषय भक्ति और नीति है । इस के छंदों में नाम - महात्म्य, राम महिमा और धर्मोपदेश आदि विषय आए हैं । इस ग्रंथ से तुलसी की बहुलता का परिचय मिलता है । दोहावली ब्रज भाषा की रचना है।

10. कवितावली :-

इस का रचना काल सन् 1604 से 1623 के बीच माना जाता है । इस में कविता शैली में राम कथा कही गयी है । यह ब्रज भाषा में लिखी गयी रचना है । इस में सवैय्या, छप्पय धनाक्षरी छंदों का प्रयोग हुआ है । 'हनुमान बाहुक' को इस का अंग माना जाता हैं । इस में कुल सात कांड और 325 छंद हैं । इस के धनुष - यज्ञ, वनवासी राम, लकांदहन और युद्ध का प्रसंग आदि बहुत ही मार्मिक प्रसंग है । हनुमान बाहुक में कवि ने बाहु पीडा से मुक्ति पाने के लिए हनुमान तथा कुछ अन्य देवता ओं से प्रार्थना की है । इस रूप में इस में हनुमान के शील और बल का मुख्य रूप से निरूपण किया गया है।

11. विनय पत्रिका :-

यह तुलसी का भक्ति रस संबंधी सर्वाधिक मुख्य प्रबंध काव्य है । यह गीति शैली में लिखा गया है । इस में कुल 379 पद हैं । यह एक पत्रिका शैली में लिखा गया काव्य है । कवि ने अपनी शिकायतें पत्रिका के रूप में लिखकर अपने आराध्य राम के दरबार में प्रस्तुत किया है । इस काव्य के आरंभ में विविध देवता स्तुति है । 43 वें पद से 70 पद तक राम की स्तुति, नाम जप की महिमा बतायी गयी है। बाद में विनय के पद हैं । यह ब्रजभाषा काव्य है। तुलसी के अगाध पांडित्य और उत्कृष्ट काव्य – सौष्ठव का यह ग्रंथ श्रेष्ठ उदाहरण है । इस में कवि ने अपने माध्यम से सांसारिक भोगों में डूबे मानव की मानसिक दशा का मार्मिक विश्लेषण किया है।

12. रामचरितमानस :-

'रामचरितमानस' तुलसी का सर्वाधिक श्रेष्ठ काव्य है । यह सिर्फ काव्य ही नहीं बल्कि भारतीयों के आदर्श जीवन का विश्वकोश है, आचार संहिता का आदर्श ग्रंथ है। भारतीय मूल्यों एवं मान्यताओं का प्रामाणिक ग्रंथ है । तुलसी ने इस का लेखन सन् 1574 में किया है । मानस में सात कांड हैं। मानस मुख्यतया दोहा-चौपाई शैली में रच गया है । बीच-बीच में अन्य छंदों का भी प्रयोग हुआ है । इस में राम कथा समग्र रूप से प्रस्तुत की गयी है । यह साहित्यिक अवधि भाषा में रचा गया है। साहित्यिक दृष्टि से भी मानस विश्व के काव्यों में प्रथम स्थान के अधिकारी है।

तुलसी की साहित्य साधना :-

तुलसी न केवल कवि है बल्कि धर्म प्रचारक, समाज सुधारक व लोक नायक है। लोक नायक वही है जो अपने समय में सब का समन्वय करता है । समन्वय करने की व्यापक उदार दृष्टि रखता है । तुलसी ने अपनी काव्य रचनाओं के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहत्यि के क्षेत्र में समन्वय किया है । राजनीतिक दृष्टि से वे अपने युग की विषम परिस्थितियों की आलोचना करते हैं –

गोड गंवार नृपाल मदि,यमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल॥

दूसरी ओर वे शासक और अधिकारियों के कर्त्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि

मुख्या मुख सो चाहिए, खान – पान को एक।

पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥

राजनीति के स्तर पर आदर्शों की स्थापना करके राम राज्य की कल्पना की है।

दैनिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा।

सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहि स्वधर्म निरत श्रुति नीति॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी दीना। नहिं कोउ अबुध न लरछन हीना॥

तुलसी को अपने समय के समाज की विषमताओं की अच्छी जानकारी थी । उनके समय का समाज आदर्श - जीवन, संस्कृति-रहित, पथ-भ्रष्ट, मर्यादा हीन और नितांत ह्रासोन्मुख था । उनके 'कलि-महिमा' वर्णन में तत्कालीन समाज का याथार्थ चित्रण मिलता है । उन्होंने सामाजिक जीवन का मूल्यांकन आचार की कसौटी पर किया है । उन्होंने सामाजिक सुधार के पहले दांपत्य संबंधों की स्थिरता पर जोर दिया है । उन्होंने पति - पत्नी के लिए आवश्यक आचार संहिता का समर्थन किया है । नारी के लिए पतिसेवा ही परम धर्म बताते हुए पुरुष के लिए भी एक पत्नीव्रत का आदर्श स्थापित किया है।

तुलसी ने पारिवारिक संबंधों के उच्चादर्शों की स्थापना की है । उन्होंने राम चरित्र द्वारा पति-पत्नी संबंध में मधुरता, भाई-भाई में अपरा स्नेह, पुत्र के आज्ञा - पालन, विमाताओं के प्रति आदर भाव आदि के उज्जवल उदाहरण प्रस्तुत कर तत्कालीन जनता को मार्गदर्शन किया । राम के जीवन पर कलकं लगाने वाली सीता-परियाग की घटना का वर्णन उन्होंने नहीं किया । तुलसी ने अपने समय के दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धांतों को समन्वय किया । मानस में अद्वैतवाद तथा विशिष्टा द्वैतवाद दोनों की प्रतिष्ठा बतायी गयी है । इसके माध्यम से ज्ञान और भक्ति दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित किया। विभिन्न देवताओं की उपासना को लेकर तत्कालीन हिन्दू समाज में परस्पर संघर्ष हुआ करता था। तुलसी ने शिव, शक्ति विष्णु, गणेश आदि सभी प्रमुख देवी- देवताओं की स्तुति करके अपनी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय दिया है।

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपने हु मोहिं न पावा॥

संकर विमुख भगति यह मोरी। सो नार की मूढ मति थोरी॥

तुलसी ने साहित्य के क्षेत्र में भी अद्‌भुत समन्वय किया है । उन्होंने अपने समय में प्रचलित सभी काव्य रूपों का प्रयोग किया है । महाकाव्य, मुक्तक, गीतिकाव्य आदि सभी का । साथ

ही प्रचलित अवधी एवं ब्रजभाषाओं का भी उन्होंने प्रयोग किया है । तुलसी ने विभिन्न काव्य- शैलियों का मार्मिक प्रयोग किया है। 'कविता कर के तुलसी न लसे । कविता लसी पा तुलसी की कला' उक्ति तुलसी के संदर्भ में सोलह आना भय ठहरता है। इस रूप में तुलसी में महा कवि बनने की तथा पूरे युग को प्रभावित करने वाले समन्वयवाद की अद्भुत क्षमता थी।

14.3.2 राम भक्ति शाखा के अन्य कवि :-

राम भक्ति शाखा के कवियों में तुलसी महा वृक्ष के रूप में उभरे हैं । तुलसी स्तर का दूसरा कवि समस्त रामभक्ति शाखा में नजर नहीं आने पर भी राम भक्ति शाखा में तुलसी को छोड़कर अन्य कवि भी हुए हैं । इन में से कुछ ने तुलसी की परंपरा का अनुकरण किया और कुछ ने नये संप्रदाय की स्थापना की है । तुलसीदास के बाद राम भक्ति शाखा में केशव दास का नाम लिया जा सकता है । उन्होंने रामकथा के आधार पर 'राम चंद्रिका' लिखी है । केशवदास मूलतः आचार्य कवि थे। इस लिए 'राम चंद्रिका' भक्ति रस पूर्ण काव्य नहीं बन सका बल्कि वह काव्य शास्त्रीय ग्रंथ बन गया। इसका रचनाकाल 1601 ई. माना जाता है । यह पूरा ग्रंथ 39 अध्यायों में विभुक्त है।

रीति कालीन कवि सेनापति ने 'कविता रत्नाकर' नामक काव्य लिखा । इसका रचनाकाल 1649 ई० माना जाता है । इसका के चौथी और पांचवी तरंगों में राम कथा प्रस्तुत की गयी है। सेनापति श्रेष्ठ कवि थे । काव्य शास्त्र की दृष्टि से 'कवित्त रत्नाकार' का महत्व है । यह ब्रज भाषा में रचा गया काव्य है। इस राम काव्य परंपरा में आगे प्राणचंद चौहान हुए । इन्होंने 1610 ई० में 'रामा महानाटक' नामक काव्य रचा है । यह संस्कृत के 'हनुमन्नाटक के अनुसरण पर लिखा गया काव्य है। इस की भाषा अवधी यह संवाद शैली में लिखा गया काव्य है । आगे इसी परंपरा में दृश्य राम भल्ला हुए। इन्होंने ई० 1623 में 'हनुमन्नाटक' नाम से काव्य लिखा है । यह नाटक नहीं है बल्कि 14 अंकों वाला प्रबंध काव्य है, इस में सिर्फ हानुमान के चरित का उद्घाटन न करके कवि ने जानकी स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक तक की राम कथा को प्रस्तुत किया है । दृश्य राम के बाद पंजाब प्रदेश के अनेक कवियों ने राम कथा को काव्य बद्ध किया है । इन काव्य कृतियों में गुरु गोविंद सिंह की रामावतार, कृष्णलाल की रामचरित, गुलाब सिंह और दरिसिक की आध्यात्म रामायण, संतोष सिंह की वाल्मीकि रामायण आदि उल्लेखनीय है । इस रूप में राम भक्ति शाखा की यह राम काव्य परंपरा आधुनिक युग तक तथा उसके बार तक चलती रही।

इस प्रकार वैष्णव भक्ति की यह दूसरी धारा राम-भक्ति शाखा हिन्दी में काफी प्रचलित रही। कृष्ण भक्ति दर्शन के साथ स्पर्धा करते भी भारतीय मध्य युग में जन जन में प्रचलित रही है । इस शाखा ने संपूर्ण उत्तर भारत में राम को आराध्य के रूप में स्थापित किया है । जो मर्यादा पुरुषोत्तम व लोकरक्षक है।

15. रीतिकाल का साहित्य - काव्य शास्त्र - दरबारी संस्कृति और लक्षण ग्रंथों की परंपरा

भक्ति काल के उपरांत लगभग संवत 1700 से लेकर 1900 तक के काल को हिन्दी साहित्य का रीति काल कहा जाता है । रीतिकाल की समय सीमा को लेकर कोई बडा मतभेद नहीं है । बल्कि इस के नाम-करण को अनेक अलग अलग मत मिल जाते हैं । किसी ने इस श्रृंगार काल, किसी ने इसे कला काल किसी ने इस अलंकृत काल कहने का प्रयास किया है । अधिकांश लोगों ने इसे रीतिकाल कहने का प्रयास किया है । इन नाम करणों से एक बात स्पष्ट होती है कि आलोचकों ने इस काल के साहित्य की किसी एक प्रवृत्ति को आधार बनाकर नामकरण करने की कोशिश की है । उस रूप में श्रृंगार, काव्य कला, अलंकार तथा रीति इस काल के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ मानी जा सकती है। रीतिकाल का साहित्य हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है । जैसे अन्य युगों की तरह युग के परिवेश ने रीतिकाल साहित्य को प्रभावित किया । रीतिकाल साहित्य लेखन में युगीन पत्वि आदि सीमा तक जिम्मेदार परिवेश रहा है । रीतिकालीन साहित्य पर प्रकाश डालने के पहले रीतिकालीन साहित्य को प्रभावित करनेवाले परिवेश संबंध मुद्दों पर विचार करना उचित होगा।

15.1 'रीति' और रीतिकाल का साहित्य :-

'रीति' शब्द 'री' और 'रीड़' धातुओं से सिद्ध होता है। इसका भावार्थ - 'रीति' एवं 'श्रमशीलता' है। इस शब्द का सामान्य अर्थ 'विधि' या 'परिपाटी' होता है। संस्कृत में इस का विशिष्ट अर्थ है - 'विशिष्ट पदरचना' इस रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले आचार्यों की एक लंबी परंपरा संस्कृत काव्य - शास्त्र के इतिहास में पायी जाती है । सबसे पहले आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कह कर रीति को काव्य की आत्मा माना । रीति का अर्थ 'विशिष्ट पद रचना रीति:' किया। यह भी सही नहीं है कि आचार्य वामन के पहले रीति शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। सर्व प्रथम, ऋग्वेद में तीन बार 'रीति' शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु भिन्न-भिन्न अर्थों में । पहली बार रीति शब्द स्तुति के अर्थ में, दूसरी बार शीघ्र गति के अर्थ में तथा तीसरा बार गमयित । (प्रेरक) अर्थ में तदुपरांत पाणिनि ने भी इसी शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है - गतिशीलता एवं श्राव्यता पतंजली ने भी रीति शब्द का अर्थ 'शैली' लिया है।

हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रयोग होने के पहले संस्कृत काव्य शास्त्र में इस का प्रयोग हुआ था। यह शब्द मूलतः काव्य शास्त्र का है । अतः इसकी चर्चा करना उचित होगा कि काव्य शास्त्र में इस का प्रयोग कहाँ कहाँ किस रूप में हुआ है। राज शेखर ने अपनी कृति 'काव्य- मीमांसा' में रीति - निर्णयः सुवर्ण नामः कहा है, अर्थात सुवर्णनाम वाले व्यक्ति को रीति का व्यवस्थापक बतलाय है। भरत मुनि ने अपने नाट्य- शास्त्र में रीति शब्द का अर्थ 'प्रवृत्ति' लिया है । यह अर्थ संभवतः उन्होंने नाटक को दृष्टि में रखते हुए लिया होगा । आचार्य भामह ने गौड़ और वैधर्भी, दो मार्ग माने हैं। अचार्य वामन ने वैधर्भी, गौडी और पांचाली को माना है । सदर 'लाही' नाम से है। आनंद वर्धन रीति को 'संगठन' नाम देते हैं। आचार्य कुंतक रीति को 'कविप्रस्थान हेतु' बतलाते हैं। मम्मट इसे 'वृत्ति' नाम से पुकारते हैं। विश्वनाथ 'रीति - पद संगठन' कहते हैं। अग्नि - पुराण में रीति 'वक्तृव- कला' के अर्थ में पुयुक्त है। इस प्रकार संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुभार 'रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, शैली पर रचना तथा काव्य परिपाटी' आदि में कोई एक रीतिशब्द का अर्थ हो सकता है।

हिन्दी में आते-आते इस शब्द का अर्थ विस्तार हुआ है। यानी एक विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। अर्थ संबंधी इस व्यापकता के कारण रीतिशब्द का अर्थ समस्त काव्य - शास्त्र के लिए होने लगा और इसी का परिणाम हुआ कि इस काल को लोग 'रीतिकाल' के नाम से पुकारने लगे। डॉ. भगीरथ मिश्र के शब्दों में ''रीतिशास्त्र के अंतर्गत केवल रीति - सिद्धांत की चर्चा करने वाले ग्रंथ ही नहीं वरन उन सभी ग्रंथों का समावेश हो जाता है। जिस में काव्य के लक्षण देने का प्रयत्न किया। गयाहो, वे चाहे अलंकार - ग्रंथ हो; चाहे रस, वक्रोक्ति और रीति ग्रंथ हो; सभी का सामूहिक रीति से रीति ग्रंथ ही कहेंगे।'' इन काव्य शास्त्रियों के अतिरिक्त रीतिकाल के काव्यों ने भी रीति शब्द का प्रयोग किया है। जैसे - 1. ''काव्य की रीति सिखी सुकविन सों, देखी सुनी बहु लोके की बातें।'' 2. ''कविता-रीति कुछ कहत हों। व्यंग्य अर्थ चित लाय।'' इस रूप में 'रीति' शब्द के अर्थ विस्तार हुआ है। इसलिए आए भी भूषण, देव मतिराम, पद्माकर, विहारी आदि विभिन्न प्रवृत्ति के कवियों के ग्रंथों को 'रीति काव्य' के नाथ से प्रकारा जा रहा है।

15.2 रीतिकाल का नामकरण :-

हिन्दी के साहित्यतिहास कारों ने सं. 1700 से 1900 तक की समय सीमा में लिखे गए साहित्य को रीतिकालीन साहित्य तथा काल को रीतिकाल कहा है। फिर भी इस में मतभेद भी दिखाई पड़ते हैं। खासकर समय सीमा को लेकर नामकरण को लेकर भिन्न स्वर सुनाई पड़ते हैं।

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ में मध्यकाल के दूसरे विभाग के रूप में सं 1700 वि० से 1900 वि० तक के समय को 'उत्तर मध्य काल' नाम देकर 'रीतिकाल' नाम का भी प्रयोग किया है। इस काल में काव्य - रीति या काव्य - लक्षणों से संबंधित रचनाओं की ही प्रधानता होने के कारण इस काल को यह नाम दिया गया।

2. मिश्रबन्धुओं ने इस काल को 'अलंकृत काल' नाम दिया है, क्यों कि इस काल में अलंकरण की प्रवृत्ति की प्रधानता पाई जाती है तथा इस काल के सभी प्रकार के काव्य में अलंकारों का बहुबल प्रयोग हुआ है।

3. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रजी ने 'हिन्दी साहित्य का अतीत' ग्रंथ में इस अवधि को 'श्रृंगार काल' नाम दिया है क्यों कि इस काल में जितनी भी रचनाएँ हुई है। इन में श्रृंगार रस की प्रधानता है। उन्होंने इस काल के आरंभ को सं. 1600 से ही माना है।

इन तीनों नामकरणों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि आज 'अलंकृत काल' नामकरण प्रयोग से वंचित है। 'रीतिकाल' नाम ही अधिक रूढ होगया है। यह नामकरण ही कई दृष्टियों से उपयुक्त लगता है। क्योंकि 'रीति' शब्द का व्यापक अर्थ है रीतिकाल की अनेक प्रवृत्तियाँ इस नामकरण के पुष्ट होती है। बाकी नामकरण कहीं कहीं न इस काल को अंशिक रूप से ही प्रतिबिंबित करते है। जैसे 'श्रृंगार काल' का नामकरण है। इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगारिकता है। फिर भी श्रृंगारिकता अकेला ही प्रवृत्ति वही नहीं है। स्वच्छंद प्रेम, भक्ति, नीति, वीरता आदि में इस काल की प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं। श्रृंगारकाल नाम जैसे इन प्रवृत्तियों से नामकरण हट जाएजा। इस में कोई शक नहीं है कि इस काल की भक्ति, वाद अन्य भाव भी श्रृंगार से प्रभावित है। जैसे रीतिकाल में जितना रचना हुई उस में प्राय: हरि और गोपी या राधा का कीर्तन तो मिलता है। पर उसे भक्ति की रचना नहीं कह सकते। आवरण के रूप में भक्ति अवश्य रह गई, पर सारी रचना लैकिक प्रेम प्रसंगों की ही प्रस्तुत होने लगा। श्रृंगार काल की सीमा के भीतर श्रृंगार के अतिरिक्त वीरदास और भक्ति रस की रचना बराबर होती रही। पर वीररस की रचना थोड़ी है और चिन्हों ने वरिदास की रचना की वे श्रृंगार की रचना से कित अदी थे। भक्ति की जो रचना बाद में हुई उसमें सूरदास आदि भक्त - कवियों से भी बढ-चढ कर श्रृंगार की छाप पडी। इस प्रकार उस युग में श्रृंगार ही श्रृंगार दिखाई देता है। फिर भी रसी-दृष्टि से श्रृंगारकाल से अधिक 'रीतिकाल' कहना उचित लगता है।

15.3 दरबारी संस्कृतिः :-

कवि कर्म दैविक एवं जन्मजात शक्ति होता है। फिर भी उसे सामाजिक माहौल प्रभावित करता है। प्राचीन काल में कवि कर्म का रूप ही अलग हुआ करता था। कवि कर्म के लिए दो ही स्थान प्रबल थे। एक राजा के दरबार पर आश्रित रहना दूसरा जीविका के लिए कोई धंधा या पेशा अपना कर कवि कर्म संपन्न करना। इन दोनों स्तरों पर होने वाला कविकर्म एक जैसा नहीं हो सकता है। इन में कवि के व्यक्तित्व के साथ-साथ राजाश्रय भी एक प्रमुख मुद्दा बन जाता है। राजश्रय के कारण कवि को सचाई खोनी पड़ सकती है। राजा का इसलिए के अनुरूप काव्य की वस्तु और रचना करना पड़ सकता है। वही कोई धंधा या पेशा करते हुए कविकर्म करने वाला कवि स्वतंत्र हो सकता है। अपनी इच्छा से व स्वेच्छा से काव्य वस्तु को चुन सकता है। और उसे स्वतंत्र अभी व्यक्त कर सकता है। इस वातायण से रीतिकालीन साहित्य का अवलोकन करने से पता चलता है कि अधिकांश रीतिकालीन साहित्य राजाओं के आश्रय में लिखा गया साहित्य है। दरबारी संस्कृति ने उसे दूर-दूर तक प्रभावित किया है। रीतिकाल का समय राजा-महाराजाओं का समय रहा है। रीतिकाल के समय उत्तर भारत में अनेकों छोटे-मोटे सम्राट हुए जिन्होंने अपने दरबारों में कलाकारों एवं साहित्यकारों को आश्रय प्रदान किया। इस काल के अधिकांश कवि दरबारी बन गए थे। जिन का लक्ष्य था - आश्रयदाता का मनोरंजन करके यश और धन की प्राप्ति करना। कविलोग दरबार में रहकर सामंतों का मनोरंजन करते थे और राजाओं एवं राजकुमारों को शिक्षा भी देते थे। एक प्रकार से कविगण दरबार में रहते हुए चारण, शिक्षक, आचार्य और सभा कवि के रूप में कार्य करते थे। दरबार की इस संस्कृति से उनका कवि कर्म भी प्रभावित होता था।

रीतिकाल में प्राप्त होने वाली दरबारी संस्कृति कुछ विशेष प्रकार की है। रीतिकाल का आरंभ शाहजहां के शासन काल के उत्तरार्ध से होता है। मुगलों के दरबारों में हुए प्रतिभावन कलाकार हुआ करते थे। ऐसे कलाकारों को दरबार में स्थान मिल जाता था। जिस दरबार में रहने वाले प्रतिभावान कलाकारों के बीच में स्पर्धा चलती थी। शासक भी इस में रुचि लेते थे। शासक भी अपने गुणगान करने प्रतिभावान कलाकारों की तलाश करते थे। आत्म-प्रशंसा, सुनना उस समय के शासकों की कमजोरी थी। तत्कालीन राजा एवं नरेशों में यह प्रवृत्ति कुछ ज्यादा था। मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। हिन्दी कवियों को, इन फारसी कवियों से होड़ लेना पड़ता था। इसी वजह से उन्हें अपने काव्य नायक राधा और कृष्ण का रूप फारसी नायक और नायिकाओं के अनुरूप गढ़ना पड़ता था। दरबार की इस मांग के कारण अथवा इस दरबार संस्कृति के कारण हिन्दी के कवियों ने अपने काव्यों में श्रृंगार को बल

किया है। दरबारी संस्कृति की विलासिता भी इन के काव्य की वस्तु बन गयी। चमत्कार, मनोरंजन, उनके काव्य के प्रमुख लदय बन गए। दरबारी संस्कृति की वजह से रीति कालीन साहित्य में यथार्थ जीवन का चित्र उभर नहीं पाया। साहित्य सर्जन का उद्देश्य चमत्कार, पांडित्य-प्रदर्शन और आश्रयदाता का गुनगान करना रह गया। साहित्य कलात्मक तो हुआ। इस में मानवीयता, जीवंतता समाप्त होती गयी।

15.4 लक्षण ग्रंथों की परंपरा :-

हिन्दी के रीतिकाल में सिर्फ कवि नहीं हुए बल्कि आचार्य कवि हुए । इन्होंने काव्य लिखने की जगह लक्षण ग्रंथ लिखकर काव्यांगों का निरुपण किया। फिर नए सिरे काव्य शास्त्र का निर्माण किया। रीतिकाल के लक्षण ग्रंथ कारों को आचार्य कहते हैं। ये आचार्य सिर्फ आचार्य ही नहीं कवि भी थे। संस्कृत परंपरा में कवि और आचार्य भिन्न थे। परन्तु हिन्दी के संदर्भ में आचार्य कवि भी हुआ करते थे। यहाँ एक बात का उल्लेख करना चाहिए कि संस्कृत कवियों के आचार्यत्व एवं हिन्दी कवियों के आचार्यत्व में काफी अंतर दिखाई पड़ता है। हिन्दी के आचार्यों ने काव्यांगों का विस्तृत निरूपण नहीं किया। इन में खंडन-मंडन की प्रवृत्ति का अभाव दिखाई पडता है। रीतिकाल के बहुत आचार्य रसिक कवि थे और उनका उद्देश्य भी कविता करना था। श्रृंगार पदों का उन्होंने सुंदर अनुवाद तो किया। किंतु शास्त्रीय विषयों का गंभीर विश्लेषण नहीं किया। इस के संदर्भ में इन्होंने कोई मौलिक प्रतिपादन नहीं किया, बल्कि इन में श्रृंगार का समग्र विवेचन देखने को मिलता है। इसी प्रकार इन्होंने अलंकार, शब्द शक्ति, दृश्य काव्य आदि का मौल्कि प्रतिपादन नहीं किया। इसलिए अनेक आलोचकों ने उनके आचार्यत्व तथा लक्षण ग्रंथों पर लक्षण लगाते हैं। आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने लिखा है - ''हिन्दी में लक्षण ग्रंथों की परिपाटी पर रचना करनेवाले सैकड़ों कवि हुए है। वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्त्व में कवि ही थे।'' आगे वे लिखते हैं - ''इन रीति ग्रंथों के कर्ता भावुक, हृदय और निपुण कवि थे। उन का उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना।''

रीतिकाल के दो सौ साल की अवधि में अनेक रीति ग्रंथ अथवा लक्षण ग्रंथ लिखे गए हैं। विषय की दृष्टि से इस अवधि में तीन प्रकार के लक्षण ग्रंथ दिये गए हैं। 1. रस विषयक ग्रंथ 2. अलंकार विषयक ग्रंथ 3. काव्य के सर्वांग - निरूपक ग्रंथ। इन तीनों प्रकारों के ग्रंथों में ग्रंथकारों ने काव्य के विविध अंगों के लक्षणों के साथ साथ उनके निरूपण के लिए सरस उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इस परंपरा के सर्व प्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ केशवदास की 'रसिक प्रिया' है। यह रस विवेचन से संबंद्ध

रचना है। इस में प्रमुखत: श्रृंगार रसक वर्णन है। अन्य रसों का इन्होंने गौण रूप से वर्णन किया है। इस ग्रंथ के अंत में अनरस नाम से पांच रस दोषों का भी निरूपण किया है। केशव की दूसरी रचना 'कवि प्रिया' भी लक्षण ग्रंथ है। इस में कविशिक्षा, अलंकार,-निरूपण और दोषों का वर्णन है। 'छंद माला' भी केशव का लक्षण ग्रंथ है। केशवदास के बाद रीतिकालीन आचार्यों में चिंतामणी का नाम लिया जाता है। काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्य प्रकाश, रस मंजरी तथा पिंगल चिंतमणी के लक्षण ग्रंथ है। परन्तु इन में कविकुल कल्पतरु और पिंगल ही उपलब्ध होते हैं। ''कवि कुल कल्पतरु'' में इन्हों ने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है। 'पिंगल' में छंदों का निरुपण है।

मतिराम के ग्रंथों में ललितललाम और रसराज लक्षण ग्रंथ है। 'रस राज' में श्रृंगाररस का वर्णन है।'ललित ललाम' अलंकारों पर लिखा गया ग्रंथ है। अलंकारों की लक्षण दोहों में लिखे गए है और उदाहरण कवित्त और सवैयों में। अलंकारों की शास्त्रीय दृष्टि से इस का महत्व नहीं है। भूषण का 'शिवराज भूषण' लक्षण ग्रंथ है। इस में भूषण ने अलंकारों के लक्षण देकर उदाहरणों में शिवाजी तथा उनकी वीरता और यश पर कवित्त और सवैये लिखे हैं। अलंकारों का लक्षण संबंधी विवेचन तो प्रौढ़ नहीं है वरन् कहीं-कहीं पर तो भ्रांत है पर उदाहरण अत्यंत सरस और उत्कृष्ट बन पडे है। उनके भूषण उल्लास और भूषण उल्लास अलंकारों और रोजों पर लिखे गए ग्रंथ है। परन्तु ये ग्रंथ अप्राप्य हैं। देव के 72 ग्रंथों में भाव विलास, अष्टयामी, शब्द रसायन, कुशलविलास आदि लक्षण ग्रंथ माने जाते हैं। इन्होंने अपने लक्षण ग्रंथों में काव्य शास्त्र के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। आचार्य भिकारी दास के ग्रंथों में रस सारांश काव्य निर्णय, श्रृंगार निर्णय, छंदार्णव पिंगल, शब्दनाम प्रकाश लक्षण ग्रंथ हैं। उनके रस सारांश में सभी रसों का विवेचन है।

आचार्य कुलपतिमिश्र का 'रस रहस्य' लक्षण ग्रंथ है। आचार्य श्रीपति के कवि कुल कल्पद्रुम, रस सागर, अनुप्रास विनोद लक्षण ग्रंथ है। सोमनाथ के रसपीयूष निधि, श्रृंगार विलास, पद्माकर भट्ट का जदद्विनोद लक्षण ग्रंथ हैं। इस रूप में रीतिकाल में लक्षण ग्रंथों की एक लंबी परंपरा दिखाई पड़ती है। संस्कृत के आचार्यों की तरह गहनतम प्रतिभा इनमें न होने पर भी इन आचार्य कवियों ने संस्कृत काव्य शास्त्र अनुकरण में हिन्दी को काव्य शास्त्र प्रदान करने की सफल को शिश की है। इस दृष्टि से रीतिकाल के ये सभी आचार्य कवि प्रशंस निय हैं।

16. रीतिकालीन साहित्य की सामाजिक, राजनीतिक तथा संस्कृतिक पृष्ठभूमि

रीतिकालीन साहित्य बहु आयामी साहित्य है। एक साथ कई प्रवृत्तियों को अपने में समाया हुआ साहित्य है, श्रृंगार, भक्ति, नीति, रीति, वीर रस, काव्य-शास्त्र आदि कई साहित्यक प्रवृत्तियों से ओत प्रोत साहित्य है। जन जीवन से दूर रहने के बावजूद भी राजाओं के दरबार से संबंध रखने वाला साहित्य है। विलासिता में पुष्पित होकर विलासिता को बिखेरनेवाला साहित्य है। भक्तिरस के नायक - नायिका राधा और कृष्ण को लौकिक रसिक नायक और नायिकाओं के रूप में रूपांतर करनेवाला साहित्य है। अभव से दूर वैभव का उद्‌बोध करनेवाला साहित्य है। सब से बढकर कला की दृष्टि से काव्य - कला की दृष्टि से महोत्कृष्ट साहित्य है। इस का मुख्य कारण यही है कि रीतिकालीन साहित्य आचार्य कवियों के द्वारा लिखा गया साहित्य है, रीतिकालीन की इन मौलिक उद्‌भावनाओं के लिए बहुत कुछ युगीन परिवेश ही जिम्मेदार रहा है। युगीन परिवेश ही रीतिकालीन साहित्य को एक शिष्ट रूप दिया है। रीतिकालीन साहित्य के विश्लेषण के लिए पृष्ठभूमि परक इस परिवेश को समझना आवश्यक है। परिवेश के साथ परिचय प्राप्त करने के पहले रीतिकालीन साहित्य के स्रोतों को जानना आवश्यक होगा।

16.1 रीतिकालीन साहित्य के स्रोत :-

रीतिकालीन साहित्य के स्रोत के रूप में पूर्ववर्ती साहित्यक परंपरा और उस की पृष्ठ भूमि को लिया जा सकता है।

पूर्ववर्ती साहित्यक परंपरा :-

रीतिकालीन साहित्य अचानक एवं अक स्मात लिखित साहित्य नहीं है। उस के पीछे एक लंबी साहित्यक परंपरा रही है। रीतिकाल का साहित्य कोई नई वस्तु नहीं, अपितु परंपरा से प्राप्त एक धारा का विकास मात है। कोई भी धारा साहित्य में स्पष्ट सामासित होने के पूर्व बहुत समय तक प्रथम रूप में अपना आभारु प्रकट करती है। बाद में जाकर वह स्रोत का रूप धारण करती है। संस्कृत, प्राकृत और पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य के श्रृंगार - काव्य की परंपरा इस युग के साहित्य कारों को प्राप्त हुई। जिसका पल्लवन बाद में उन्होंने किया। कालिदास, श्रीहर्ष आदि प्राचीन संस्कृत कवियों की रचनाओं में श्रृंगार की धारा का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। अमरुक शतक, आर्या सप्तशती आदि ग्रंथ भी श्रृंगार

का विवेचन किसी न किसी रूप में करते हैं। दुर्गा सप्तशती, नंदीझा वक्रोकित-पंचाशिक, कृष्ण लीलामृत आदि अनेक ऐसी कृतियां, जो काम और यौन के श्रृंगारिक पहलू का उद्वाहन करती हैं। प्राकृत, अपभ्रंश परभी इसी परंपरा का प्रभाव देखा जा सकता है। जयवल्ल तथा हेमचंद्र की रचनाओं का भी इस संदर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। जयदेव, वद्यापति आदि की रचनाओं को भक्ति, रहस्यवाद आदि से भूषित करने का प्रयत्न भले ही अलंकारी हो, तथापि साथ यह है कि विद्यापति ने इन्द्रियों के श्रृंगार का जो मनमोहक चित खींचा है, उस के पीछे नायिका - भेद की भावना छिपी हुइ है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में वीररस के वर्णनों के साथ साथ क्षत्रिय कन्याओं का रूप-लवण्य आदि श्रृंगारी वर्णनों की भी कमी नहीं है। चंदबरदाई रीति-नीति से परिचित थ। कृपाराम की हित तरंगिणी में उल्लेख है कि उस के पूर्व श्रृंगार - रस का विशद वर्णन किया गया है।

हिन्दी का राम-काव्य तो मर्यादा-बद्ध था, पर कृष्ण-काव्य मधुरोपासना का काव्य हो गया। आराध्य की लीलाओं के वर्णन के समय श्रृंगारी वर्णन के अनेक पद कृष्ण -भक्त कवियों ने प्रस्तुत किए है। सूरदास ने भी अपने श्रृंगार वर्णन में नायिका भेद तथा वियोग और संयोग श्रृंगार के द्वारा श्रृंगार वर्णन की इस एतिहासिक पृष्ठ-भूमि का ही परिचय दिया है। महाकवि तुलसीदास की द्वारा 'बरवै रामायण' की रचना को भी रीति के प्रभाव का ही एक उदाहरण माना जा सकता है। रहीम का 'बरवै नायिका भेद' श्रृंगार ग्रंथ ही है। नंददास की रसमंजरी में वनिता - भेद का विशद विवरण प्राप्त होता है। इस के द्वारा हिन्दी साहित्य में रीति - ग्रंथों के प्रणयन का आरंभ किया। चिंतामणि तक आते-आते वह वह धारा प्रबल हो गयी और आगे सैकडों रीति-ग्रंथों से साहित्य का क्षेत्र संपन्न हो गया।

धार्मिक परंपरा :-

रीतिकाल में राधा और कृष्ण की उपासना की गयी है। जो भक्तिकाल से भिन्न है। फिर भी इस की परंपरा भक्ति काल से जुड़ती है। भगवान विष्णु के अवतारों में लास्या उत्पन्न करने वाले आचार्यों में स्वामी रामनंद तथा वल्लभाचार्य प्रमुख है। भक्ति -भावना का प्रचार प्राय: इन्हीं लोगों ने किया। श्री रामानुजाचार्य जी की शिष्य परंपरा में 15 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे रामभक्ति के प्रचारक श्री रामानंद जी हुए। इसी समय श्री चैतन्य महाप्रभु तथा श्री वल्लभाचार्य जी ने माधुर्य और वात्सल्य - भक्ति से कृष्ण - भक्ति का प्रचार किया। श्री रामानंदजी की परंपरा में गोस्वामी तुलसी दास जी तथा श्री वल्लभाचार्य जी की शिष्य परंपरा में सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवि हुए।

राम सदा मर्यादा पुरुषोत्तम माने जाते रहे। इसके अतिरिक्त राम के एक पत्नीव्रत होने के कारण उस के चरित्र के साथ श्रृंगार के प्रतिपादन का कोई विशेष अवसर आचार्य - कवियों को नहीं मिला परन्तु कृष्ण काव्य के विकास के साथ राम काव्य में भी आगे चलकर श्रृंगार वर्णन के अवसर ढूंढ निकाले गए। तुलसी दास की रचनाओं में भी कुछ श्रृंगारी - वर्णनों के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। कृष्ण - काव्य की श्रृंगारी-शैली पर उनकी 'कृष्ण-गीतावली' तो एक प्रसिद्ध रचना बन गयी। रामचरित मानस में भी 'वाटिका प्रसंग' आदि स्थलों पर श्रृंगार - वर्णन पाए जाते हैं।

कृष्ण भक्ति में श्रृंगार का महत्व है ही। ब्रजवल्लभ श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं में श्रृंगाररस का पूर्ण परिपाक हुआ है। श्रीकृष्ण के साथ राधिका का भी सभी स्थानों पर उल्लेख हुआ है। राधिका श्रृंगार नालिका उत्तरोत्तर काल में बनायी गयी है। दाल सप्तशती, ध्वन्या लोक आदि ग्रंथों में राधा का उल्लेख हुआ है। विद्यापति से राधा - कृष्ण- विषयक साहित्य का प्रणयन तीव्रगति से हुआ और उसका पूर्ण विकास हुआ। मध्वाचार्य के सिद्धांत में भी राधा-कृष्ण की उपासना को विशेष महत्व प्राप्त हुआ है। वल्लभाचार्य ने भक्ति की साधना के लिए केवल प्रेम पर जोर दिया। इस रूप में भक्ति में श्रद्धा की जगह प्रेम का महत्व हो गया। इसी को प्रेम लक्षणा भक्ति कहा गया। इस प्रेम की साधना में लोक- मर्यादा और वेद-मर्यादा, दोनों के त्याग में वल्लभाचार्य जी ने कोई दोष नहीं देखा। रीतिकाल में ये ही उपास्य साधारण नायक-नायिका बन गए। बिहारी का यह दोहा रीतिकालीन काव्यों के ऐन्डिप वर्णन का प्रतिनिधित्व करता है।

तजि तीरथ हरि राधिका, न द्युति कर अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग पग होत प्रयाग॥

16.2 रीतिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि :-

16.2.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि :-

रीतिकालीन साहित्य लेखन के लिए बहुत सीमा तक रीतिकालीन पृष्ठभूमि ही जिम्मेदार रही है। खासकर राजनीतिक पृष्ठभूमि ने पूरे रीतिकालीन साहित्य को प्रभावित किया है। रीतिकाल के आरंभ से ही शाहजहां का शासन रहा है। देश में आंतरिक दृष्टि से शांति थी। शाहजहाँ ने दक्षिण में भी अपना राज्य विस्तार किया था। वह एक ओर कलाप्रिया। तो दूसरी ओर धार्मिक असहिष्णु था। इस रूप में आरंभ में रीतिकालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने रीति-साहित्य के विकास में सहयोग दिया है। तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था एक प्रकार से निरंकुश राजतंत्र था। सम्राट की इच्छा ही कानून था।

किसी भी संदर्भ में उसी का निर्णय अंतिम था। शासक के विख्यात होने के कारण अथदिष्णुता का अंश भी निरंकुशता के साथ मिल गया था। शासक और शास्ति में शासक और शोषित का ही, संबंध रहा। राज्य में सामंत व्यवस्था प्रचलित था। जो जनता के सुख-दुखों की उपेक्षा करती थी। शाहजहां के शासन-काल के उत्तरार्ध में उत्तरधिकार के युद्ध के कारण राज्य में अव्यवस्था और अशांति फैली हुई थी। पिता-पुत्र के युद्धों की भी क्षणता की ओर गिरिधर कविराय ने निम्न लिखित छंद में संकेत किया है।

सोई बेटा बाप के वीरे भयो अकाज।
हरनाकुप अरु कंस को गये दु हुन को राज॥
गयो दुहुन को राज, बाप बेटा के बिगरे।
दुइमन दावार्गीर भये मरिमंडल के सिगरे।
कह गिरिधर कविराय जुग न यदी चलि आई॥
पिता पुत्र के बैर न जा कहु फैने पाई।

अनवरत युद्धों के कारण मुगल - साम्राज्य में सैनिक व्यवस्था को सर्वाधिक महत्व प्राप्त था। राजनीतिक अव्यवस्था तथा युद्ध की विभाषिका - इन दोनों का वर्णन कुछ रीतिकालीन काव्यों ने किया है। रीतिकाल में राज्य-व्यवस्था प्रचलित था।यह एक ऐसी दुदर्श व्यवस्था बन गई थी जिस में प्रजा का शोषण भी हुदरा। हो गया था जहां स्थानयी शासक स्वतंतत्र हो गए थे वहां छोटे छोटे सामंत जमींदार और राज- कर्माचारी अपने स्वामी को भी प्रसन्न रखने के लिए अधिक कर वसूल करना चाहते थे। शासकों का प्रदर्शन और विलास की प्रवृत्ति में अनुकरण करते हुए अपने लिए भी प्रजा का शोषण करते थे। इस द्विविध शासन -व्यवस्था में प्रजा का दुख बढता ही जाता था।

राजनीतिक परिस्थितियों रीतिकालीन साहित्य में आंशिक रूप से ही परिवर्तित हुई। तत्कालीन काव्य में न युगबोध ही अपने ज्वलंत अथार्थ के साथ आ पाया और न युग - दर्शन के लिए साहित्य ने कोर्ड नई दृष्टि ही प्रदान की। उच्चवर्गों युद्ध और विलास संबंधी गति-विधि तक रीतिकालीन साहित्य की कल्पना सीमित था। विलासिता के संकेत राजनीतिक व्यवस्था को संतलिन करने लगे थे। ऐहिक समृद्ध की सामग्री पुराने वाले उन्नत परों पर आसीन हो गए थे। फलस्वरूप कर्मचारियों का बौद्धिक स्तर बहुत गिर गया था। यदी स्थिति कवियों के लेखन में परिवर्तित होती है। इस दरबारी संस्कृति की वजद से कविता के मुख्य स्वर मनोरंजन चमत्कार उक्ति वैचित्र्य की ओर झुका गए। नारी सौंदर्य

और उसका मांसलवर्णन दरबारी मनोरंजन का मुख्य विषय बनगया था। राजनीति की इस अव्यवस्था के कारण रीतिकालीन न उच्च स्थिति उदात्त साहित्य नहीं रचा गया।

16.2.2 सामाजिक पृष्ठभूमि :-

राजनीतिक अव्यवस्था के अनुरूप ही रीतिकालीन समाज की स्थिति में भी अतेक परिवर्तन हुए। इस युग का सामाजिक स्थिति के संबंध में डॉ. ऐश्वरी प्रसाद का स्थित कथन सोलह आना सच है। उन्होंने लिखा है – ''शाहजहां के समय में हिन्दुस्तान का समाज सामंतीय आधार पर स्थित था। सम्राट इस सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र था, उसके अधीन मनसबदार या अमीर थे। जो ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर थे। इन के बाद साधारण कर्मचारियों का वर्ग था, जो राज्य के छोटे-छोटे विभागों में काम करते थे। उस समय का महल वर्ग अधिक तर इन्हीं लोगों से निर्मित था। इनके अतिरिक्त, व्यापारी, साहूकार, दुकानदार आदि भी थे, परन्तु ये लोग आर्थिक दृष्टि से महल वर्ग की स्थिति होने में हुए भी शिक्षा, संस्कृति से हीन थे। निम्न-वर्ग में नौकरी-पेशा लोगों और मजदूरों के अतिरिक्त भारत का बहुत कृषक-समुदाय भी था, जो सोना पैदा करके मिट्टी पर गुजर कर रहा था। अधिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता था – एक उत्पादक वर्ग और दूसरा भोक्ता वर्ण उत्पादक वर्ग कृषक – समुदाय और श्रमजीवी थे। ये लोग शासन और युद्ध के मामलों से सर्वथा, पृथक रह कर अपने खेती- व्यापार के कामों में लगे रहते थे, सरकार को कर देते थे और उसके बदले आंतरिक तथा बाह्य उपद्रवों से त्राण पाते थे। भोक्ता वर्ग सम्राट के परिवार और दरबारों से लेकर उनके नौकर-चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति थी। अतएव उत्पादक वर्ग पर इस का पूर्ण प्रभुत्व था। सामाजिक स्थिति भी स्वभावत: इन की श्रेष्ठतर थी। इन दोनों के बीच बडा अंतर था .... शासक और शासित .... शोषक और शोषित का। ''

रीतिकाल के समय समाज के अन्य वर्गों के साथ – साथ कवि और कलाकारों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। अपनी जीविका के लिए वे लोग, राजा, सामंत, मनसबदार आदि शोषक वर्ग के व्यक्तियों के पास उनके आश्रय में रहने लगे थे। डॉ. भगीरथ मिश्र के शब्दों में ''यही दशा साहित्यकार की सी थी और उसकी कथा आपत्ति और गरीबी ग्रस्त जन- साधारण के बीच न हो सकती थी, अत: गाँव-गाँव का गाँवारु – वायु छोड़कर नगर की और जाते थे, जहाँ उन्हें करदां मिल थे, निश्चय ही इन कवियों को आश्रय देने वाले सामंत, राजा, अमीर या बादशाह की सभी के अनुसार या उसे प्रभावित करने वाला काव्य लिखना आवश्यक था, जिस से उनकी ऐशिक संतुष्टि होती थी और प्रतिभा का भी कम – से कम एक क्षेत्र में विकास होता रहता था'' ये सामंत आदि पराजय की भावना के निष्क्रिय

होने के कारण अत्यंत विलासपूर्ण पूर्ण ढंग से रहते थे। उनको सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं। अत: जो आहे, वह कह सकते थे। प्रत्येक सामंत के पास एक से अधिक रानियाँ थी। बादशाहों के अंतपुरों में तो हजारों स्त्रियों रहती थीं। ''किस नारी को संत और भक्त कवियों ने सब दुख - खानि के रूप में देखा था, वह यदी सामंतों के रानिवासों में रहनेवाली नारी थी जो स्वयं विलास, ईर्ष्या, काम और वासना के समुद्र में डूब हुई अपने पति, नायक आदि के लिए स्वयं एक चेतना से कवि विलास की सामग्री बन बैठा था। अपने हाव-भाव, कटाक्ष, अलंकरण और सजजज से नायक को तथा अपने सहज रूप, गुण,शीला, प्रेम से अपने पति को रिझाना यही उस के जीवन का चरम लक्ष्य था।'' इस में संदेह नहीं कि नारी का यह रूप भी अपना महत्व रखता है और वह महत्व रीतिकाल में चरम सीमा पर था। सारा समाज उस के रूप और विलास का उपासक था। अत: रीतिकालीन साहित्य में उसका भरपूर वर्णन मिलता है। रीतिकालीन साहित्य में इसी कारण वस्त्र आभूषण, प्रसाधन, खान - पान, सज्जा-अजबा आदि सभी के वर्णनों में इसी अनिशय विलासिता के दर्शन होते हैं। जन सामान्य में भी इस प्रकार के विलासी- जीवन की आकांक्षा थी। यद्यपि वह उनके लिए दूर की चीज थी।

16.2.3 धार्मिक पृष्ठभूमि :-

धार्मिक दृष्टि से रीतिकाल ह्रास-युग ही माना जाता है। राधा, कृष्ण आदि देवताओं की उपासना के पीछे विलासता ही दिखाई पडती है। नैतिकता के डीले पड़ते से सामान्य जनता के साथ साथ कवि भी योग विलास में डूब गए थे। ऐसी स्थिति में धर्म का कोई उदात्त रूप का होना असंभव ही था। साथ ही अंधविश्वासों रुढियां और बाह्याडंबरों ने धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। इस काल में कृष्ण भक्ति धारा पयत्न रहा। फिर भी उस से रसिकता की ही गंध थी। राधा और कृष्ण की आड में कामुकता ही खुलकर अभिव्यक्ति हुई। मंदिरों और मठों के पुजारियों तथा महंतों के जीवन में भी दिव्य प्रेम की जगह वासना दी गयी। यहां तक कि राम भक्ति संप्रदाय में रसिकता का प्रक्षेपन हो गया। निर्गुण एवं सूफी संप्रदायों की स्थिति थी कुछ अलग नहीं था।

16.2.4 संस्कृतिक पृष्ठभूमि :-

शासकों की कट्टरता ने इस युग के संस्कृतिक जीवन को अत्यंत प्रभावित किया था। इस समय के शासक विदेशी थे। मुसलमान थे। भारतीय संस्कृति के साथ उनके साहृय की जगह वैष्मय ही अधिक थे। ईश्वराराधना और मंदिरों के संदर्भ में उनकी अलग सांस्कृति थी। वे एकेश्वर वादी थे। भारतीय जनता अवतारवाद में विश्वास करने वाली थी। ईश्वर के प्रति भारतीय लोगों के अपने विश्वास थे, जो शासकों के विश्वासों से मेल नहीं खाता था। परिणाम स्वरूप उनकी आँखों के सामने उनके ईश्वर को

नीचा दिखाला जाता था। उनके मंदिर तोड़ दिए जाते थे। बलपूर्वक तथा लुभावने आकर्षण दिखाकर धर्म परिवर्तन करवाते थे। वैवाहिक संस्कारों में भी बहुत अंतर था। मुसलमान बहुपत्नीत्व विधान को मानते थे। जब कि हिदुओं में बहुपत्नियों का निषेध था। विवाह पद्धति और संस्कारों में भी वैषम्य दिखाई पडते हैं। इस से अलग भारतीय संस्कृति वर्णाश्रम व्यवस्था पर खडी संस्कृति है। इस्लाम में वर्णाश्रय व्यवस्था की गुंजाइश ही नहीं थी। इस रूप में अनेक स्तरों पर दोनों संस्कृतियों के बीच एक टकराहट की स्थिति थी। शासक बलवान होने के नाते जनता को उनकी तरह सुकना अनिवार्य होगया था। इन दोनों की संस्कृतियों के सम्मिलन से भारतीय संस्कृति में नए परिवर्तन होने लगे थे।

16.2.5 साहित्यिक एवं कलात्मक पृष्टभूमि :-

सामंतवादी प्रवृत्ति रीतिकाल की सबसे बडी विशेषता है। इस के साथ ही विलासिता एवं वासनात्मकता थी इस काल के साहित्य में देखी जा सकती है। इन्होंने साहित्य को आमूल परिवर्तन किया। उदाहरण की जगह चमत्कारिता, सहजता की जगह कृत्रिम कलात्मकता इस काल के साहित्य में देखी जा सकती है। दरबारी संस्कृति की वजह से प्रदर्शनप्रियता भी नजर आता है। साहित्य एवं चित्र कला के क्षेत्र में बालक - बालिकायों के सौंदर्य वर्णन को महत्व मिल गया है। सौंदर्य वर्णन में भी भांसल प्रवृत्ति को प्राथमिकता मिली। नखिशिक वर्णन,नायिका भेद का वर्णन, साहित्य के केन्द्र बनगए। यह प्रदर्शन - प्रधान रीतिबद्ध काव्य शैली का परिणाम था। इस के अतिरिक्त इस युग के कवि कलाकारों में प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ बढ़ गयी। रीति कालीन साहित्य में अलंकरण की प्रवृत्ति बढगयी। काव्य शास्त्रीय दृष्टि से साहित्य को अधिक अलंकृत किया गया। कवियों ने काव्य के भाव पक्ष को कम महत्व देते हुए इस के कला पक्ष का विस्तार देने की कोशिश की है। भाषा के स्तर ब्रज को अधिक महत्व मिला। शासकों की भाषा फारसी था। कट्टरता ने काव्य भाषा को भी प्रभावित किया। औरंग जेब की कट्टर नीति से तो मुगल दरबार से हिन्दी का बहिष्कार सा होगया। इस रूप में रीतिकालीन साहित्य को सामंती छत्र छाया में पनपना पडा।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन राजनीतिक, सामाजिक धार्मक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि ने रीतिकालीन साहित्य को विशेष बनाया है। उस युग की शांति और समृद्धि, विलास तथा भोगमय वातावरण ने ही रीतिकालीन साहित्य को अंशलीला रसिकता प्रधान बना दिया था। यह पृष्ठ भूमि का सहज विकास ही था। जो अपनी पूर्व परंपरा को पीछे छोड़कर सर्वथा नए रूपमें विकसित होगया। भक्ति काल की भक्ति प्रवृत्ति की जगह रीतिकाल में दरबारी संस्कृति के अनुरूप रीति साहित्य रचा गया है। इस संदर्भ में डॉ. सावित्री सिंहा के निम्न विचार प्रासंगिक लगते हैं। रीतिकाल की

परिस्थियों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है - ''स्वार्थ परायण राजनीतिक व्यवस्था, सामंतीय वातावरण, राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और सामाजिक अव्यवस्था तथा विलास मूलक वैभव जन्म, प्रदर्शन - प्रधान अलंकार- प्रवृत्ति का तत्कालीन साहित्य एवं विधि ललिता कलाओं का गतिविधि पर बडा प्रभाव रहा है। तद्‌युगीन कलाकार की आत्मा पर ये बाह्‌य परिस्थितियाँ एक प्रकार से हावी हो गई थीं। चेतना के सूयम, सार्वभौम और विनयतत्व बाह्‌य जीवन की स्थूल साधना में लुप्त हो गए गये। स्थूल की सूमय पर विजय के कारण ही युग में रीति - काव्य लिखा गया।''

17. रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ- रीतिबद्ध, रीतिमुक्त, रीतिसिद्ध काव्य धाराएँ तथा अन्य प्रवृत्तियाँ

युगीन साहित्य युगीन पृष्ठ भूमि के आलोक में ही सृजित होता है। प्रायेक युग अपने पूर्व युगों से भिन्न होता ही है। युगीन पृष्ठ भूमि में इस परिवर्तन को रेखांकित किया जा सकता है। यह परिवर्तन ही तत्कालीन साहित्य को एक नयी दिशा देता है। परिणामत: युगीन साहित्य अपनी पूर्व परंपराओं से मुक्त होकर नये रूप को धारण कर लेता है। साथ ही अपने में नयी प्रवृत्तियों को जन्म देता है। रीतिकालीन साहित्य पर यह विचार शतप्रतिशत सही ठहरता है। रीतिकाल के पहले का साहित्य आक्रमण और संघर्ष के समय में लिखागया साहित्य है। जब कि रीति- काल का साहित्य शांति एवं समृद्धि के वातावरण में सृजित साहित्य है। यही नहीं, पृष्टभूमि के साथ जनता की चित्त वृत्तियों का संबंध होता है। फिर विद्वानों का विचार है कि साहित्य तात्कालीन जनता की चित्तवृत्तियों का परिणाम है। इस दृष्टि से भी रीतिकालीन साहित्य अपने युग की मानवता की चित्तवृत्तियों का तथा अपने युग की पृष्ट भूमि का सहज परिणाम है। साहित्य के स्तर पर रीतिकालीन साहित्य में कृतिर हो सकता है। परन्तु विकास के स्तर पर इस सहज विकास के रूप से देखना ही उचित है। इस दृष्टि से परीक्षण करने पर रीतिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ उस की पृष्ट भूमि से विसृत ठहरती हैं।

रीतिकाल की पृष्ठभूमि मूलत: सामांतीय पृष्ठ भूमि है। अधिकांश इस युग के कवि दरबारी थे। आश्रयदाता के इशारे पर तथा उनकी रुचि के अनुकूल साहित्य सृजन करना उनके लिए अनिवार्य था। दरबारी वातावरण के अनूकूल रीतिकालीन कवियों की समस्त अन्तश्लेतेन सुरा, संदर्भ और सुराही के इर्द-गिर्द ही बनी रही। उनकी दृष्टि भाव सौंदर्य की अपेक्षा उस रूप सौंदर्य की ओर ही रही। रीतिकालीन कवि ने अपनी से प्रतिभा को, नारी - शरीर के वर्णन में दिखाया। उन्होंने नारी - शरीर के महीन से महिन चित्र उतार दिए। काव्य-सृजन के इस दृष्टिकोण से रीतिकालीन साहित्य की निम्न प्रवृत्तियों प्रमुख प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार किया जा सका।

17.1 श्रृंगारिकता :-

श्रृंगार रीतिकालीन साहित्य की आत्मा मानी जा सकती है। इस में पूरे रीतिकालीन साहित्य को प्रभावित किया है। बाकी सारी प्रवृत्तियों पर यही प्रवृत्ति दावी रही है। इस के पोषण के लिए ही रीतिकालीन साहित्य 'श्रृंगारिकता' के इर्दगिर्द ही परिक्रमा करता रहा हैं।

रीतिकाल की श्रृंगारिकता में नायिकाभेद, नख-शिख वर्णन, उद्धीपन आदि सभी को स्थान प्राप्त हुआ है। यहां तक कि कवियों ने काव्य शास्त्रीय निरूपण संबंधी लक्षण ग्रंथों में भी श्रृंगार के उदाहरण ही दिए हैं। यदि कहीं भक्ति और नीति की उक्तियों की वर्षा में जुगनुओं की भांति चमकती है तो कवियों ने इन को भी श्रृंगार के रंग में रंग डाला है। इन की श्रृंगारिक के लिए राधा- कृष्ण ही आधार बने हैं। राधा -कृष्ण उन्हें नायक-नायिका के रूप में प्राप्त हुए। ये उन्हें श्रृंगार-परक भक्ति साहित्य के कवियों से प्राप्त हुए परन्तु उन भक्ति कवियों की तरह रीतिकाल के कवि भक्ति-भावना में लीन नहीं हो सके। इन्होंने राधा - कृष्ण के बहाने अपनी श्रृंगार - भावना को ही व्यक्त किया है। स्रोत की दृष्टि से इनको संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के श्रृंगार मुक्तक प्राप्त हुए हैं। वैसे हिन्दी में भी श्रृंगार की परंपरा आदिकाल से प्राप्त होती हैं। सिद्ध कवि स्वयं योगी थे और निम्न वर्णों की स्त्रियों की अपनी श्रृंगार - मयी रहस्य - साधना के अंग बना चुका थे। वीरगाथा कारों ने श्रृंगार को प्राथमिकता दी है। विद्यापति का श्रृंगार तो लोकप्रिय ही है। कबीर और तुलसी से भिन्न प्रेम गाथाकार और कृष्ण भक्त कवि तो श्रृंगार में डूब रहे। रामभक्ति में यह रसिक संप्रदाय का इसीलिए विकास हुआ। इस परंपरा के होते रीतिकाल में उच्चवर्गीय कामुकता ने श्रृंगार को ग्रस लिया है। इस काल की श्रृंगारिकता के संबंध में डॉ. नगेन्द्र के ये विचार इस संदर्भ में महत्व रखते हैं। उन्हों ने लिखा है - ''रीतिकालीन श्रृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपने अथवा रमने से उत्पन्न ग्रंथिया नहीं है। न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतुक्रिया रूप देने का उचित-अनुचित पुलप्ना प्रवीण की वृत्तियां डालतर सामाजिक अभिव्यक्ति चाहे वंचित रही हो, परन्तु श्रृंगारिक कुंठाओं से ये मुक्त थीं। इसी कारण इस युग की श्रृंगारिकता में वुमड़न अथवा मानसिक छेलना नहीं हैं।''

भोगपरक श्रृंगारिकता रीतिकालीन काव्य की मुख्य विशेषता है। प्रेम के उदात्त पक्ष की जगह इस युग के कवियों ने भोगपक्ष को इन्होंने महत्व दिया। श्रृंगार के बाह्य पक्ष का अधिक से अधिक सूक्ष्म निरीक्षण करके उसीको चमत्कार के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है। रीतिकालीन कवियों ने श्रृंगारिकता से संबद्ध नायिका भेद, संयोग-वियोग, श्रृंगार, नख-शिख वर्णन, ऋतुओं प्रकृति वर्णन आदि का सांगोपांन वर्णन किया है।

नायिका भेद :-

भारतीय पंरपरा में नायिका भेद की सुदीर्घ परंपरा रही है। रीतिकालीन कवियों ने अविद्यं और पूर्ण सुदरी के रूप में नायिका की कल्पना की है। नारी नायिका के रूप में उस की समस्त भावनाओं का केन्द्र बन गई, उन्होंने इन्द्रियोत्तेजक चित्रों में सडा संवेग भरदिया है। नायिका भेद के अतिरिक्त

रीतिकालीन कवियों श्रृंगार के संयोग और वियोग पक्षों का सुंदर उदघाटन किया है।

संयोग पक्ष के अंतर्गत इन्होंने हावभाव-हेला आदि चेष्टाओं, सुरत, विहार, सुरतांत आदि के वर्णन को प्रमुखता दी है। हावभाव आश्रय गत भी होते हैं और आलंबन गत भी आश्रय जहां अपने हावों से अपनी भोगेच्छा प्रकट करता है। वदां आलंब में भावोद्दीपन भी करता है। बिहारी की नायिका के हावभाव सचमुच ही सजीव है।

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।

भौंह करै, भौंहनि हंसै, दैन कहै, नटि जाउ॥

संयोग में स्पर्श का महत्व अधिक होता है। स्पर्श से हाव भावों में उत्तेजना बढती है। मतिराम की निम्न पंक्तियाँ इस से साक्षात्कार कराती हैं।

एक हि मौन दुरे इक अंग ही, अंग और अंग छुबायौ कन्दाई।

कंपछुटंयिों, घन स्वेद बढयौ तनु रोम उठ्यगे, अंख्यिां भारि आई॥

रीतिकालीन कवियों ने श्रृंगार के संयोग पक्ष के भरि आई अंतर्गत हास - परिहास, सुरत वर्णन आदि का भी मार्मिक चित्रण किया है। इन कवियों का मन वियोग पक्ष में यी रमा है। बल्कि इन कवियों ने श्रृंगारिकता को हास्यस्पद बनाने चमत्कार भी साथ लिया है। वियोग में तड़पने वाली अपनी नायिका को बिहारी ने इतना दुर्बल बनाया कि वह हवा में उडने लगती है -

इत आवति चलि जात उत, चलि छ साथक हाथ।

चढि हिंडौरा सी रही, रही उसांसन साथ॥

रीतिकालीन काव्यों में वियोग की चार प्रमुख विशेषताएँ हैं।

1. पूर्वराग 2. मान 3. प्रवास और 4. करुणा की मार्मिक अभिव्यक्ति की है।

श्रृंगारिकता में नखशिख वर्णन का अपना महत्व है और रीति कालीन कवियों ने अपने काव्यों में इसे प्रमुख विषय अपनाया है। उन्होंने नायिका और नायक के अंग प्रधांग का रीसला चित्रण प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रत्येक अंग के लिए 'अलंकार शेखर और कवि कल्पलता' आदि से उदाहरण लिए है। कहीं कहीं अकाव्योचित प्रयोग भी किये हैं। इस प्रकार के वर्णनों में उक्ति-वैचित्र्य प्रमुख हो गया है, सौंदर्य बोध गौण श्रृंगारिकता में डूबने- वाले रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति को या ऋतु वर्णन को उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण किया है। रीतिकालीन काव्यों में आलंबन के रूप में निरपेक्ष या स्वतंत्र

वर्णन का प्राय: अभाव ही है। जहां रीतिकाली न कवियों ने निरपेक्ष भाव से प्रकृति का चित्रण किया, वहां वह अधिक जीवंत हो उठा है। बिहारी के द्वारा वर्णित वसंत का निम्न चित्र इसका अच्छा उदाहरण है –

छकि रसाल, सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर–ठौर झूमत झंपत भौर भौर मधु अंध॥

इस के अतिरिक्त रीतिकालीन कवियों ने श्रृंगार के संयोग एवं वियोग पक्षों के उद्घाटन के लिए प्रकृति चित्रण को उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है।

17.2 भक्ति और नीति :-

भक्ति और नीति रीतिकाल की मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ नहीं है। इनकी भक्ति और नीति में श्रृंगार की ही गंध आते है। इस युग के खासकर देव, बिहारी, पद्माकर आदि कवियों ने भक्ति संबंधी उक्तियों की रचना की है। भक्ति का कोई निरूपण इन के काव्यों में नहीं मिलता है। जहाँ जहाँ उक्तियों के रूप में भक्ति मिलती है। उनके पीछे न भक्त का या व्यक्तित्व है और न आत्मानुभूति ही व्याकुल है। शतक–कारों की नीति–श्रृंगार – वैराग्य की त्रिवेणी से कुछ प्रेरणा लेकर इस काल के कवियों ने भी यदा–कदा भक्ति और नीति संबंधी उक्तियों का कथन कर दिया है। राधा – कृष्ण के सुमिरन का बढ़ावा करने वाले ये कवि भक्ति से कोसों दूर थे। ग्वाल कवि ने राधा – कृष्ण से उनकी अति श्रृंगारिक वर्णन करने की क्षमा – याचना की है –

श्री राधा पर पदम को, प्रनमि प्रनमि कवि ग्वालं।
छमवत है अपराध कों, किया जु कथन रसाल॥

रीतिकालीन कवियों की भक्ति श्रृंगार के आवरण में ही प्रस्तुत हुई है। रीतिकालीन नीतिपरक साहित्य में या तो रूढि बद्ध प्राप्त वाक्यों को रखा गया है, या लोकोक्तियों को नर्वान शैली दी है। यदि इन कवियों की अनुभूति का योग माना जा सकता है तो केवल वहीं जहां प्रेम की निस्फलता, अस्थिरता, गुण – ग्राहकता का अभाव आदि इन के नीति साहित्य के विषय बने हैं। रीतिकालीन काव्य में व्यक्त भक्ति और नीति इन कवियों के अवसान और थकान को ही व्यंक्ति करती है। राग की अतिडालता से ऊबकर मनुष्य या तो भक्ति और वैराग्य की साधना करता है या प्रियमाण का आंचल पकड़ता है। रीतिकालीन कवियों पर यह बात पूरी खरी उतरता है। रीतिकालीन साहित्य में मिलने वाली व्यक्ति

और नीति सिर्फ उक्ति परक है। ये उसके मुख्य स्वर नहीं है। इस संदर्भ में रीतिकालीन भक्ति के बारे में व्यक्त डॉ. नागेन्द्र के विचार उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है – ‘‘ यदि भक्ति भी उनकी श्रृंगारिकता का अंग था। जीवन की अतिशय रसिकषता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा – कृष्ण आचार्य अनुराग इन के धर्मर्मीख मन को अश्वासन देते होगा। इसी प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण–भूमि के रूप में इनकी रक्षा करता था। तथा तो ये किसी तरह उसका आंचल पकड़े हुए थे।’’

17.3 आलंकारिकता :-

रीतिकालीन युग चमत्कार और रसिकता प्रधान युग रहा है। प्रदर्शन प्रियता भी। इस युग की मुख्य पवृत्ति रही है। चमत्कार एवं प्रदर्शन के लिए आलंकारिक भाषा की जरूरत होती है। इसलिए रीतिकालीन कवियों ने अलंकारिक भाषा का कुछ इतिहास रूप में ही प्रयोग किया है। उनका भाव भृजन भक्ति कर्षक एवं प्रेरणा दायक इसी आलंकारिता के कारण ही बना है। यदि आलंकारिकता इस युग के आचार्य कवियों में अधिक दिखाई पड़ती है। इन आचार्य कवियों ने अलंकारों के शास्त्रतीय निरूपण करने के साथ साथ उनके लिए स्तरीय उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

रीतिकालिन काव्यों में व्यंजित आलंकारिकता का मुख्य उपकरण अप्रस्तुत विधान है। प्रस्तुत के अभिवर्णन के लिए कवियों ने कई रसीले व्यावहारिक जीवन के अप्रस्तुतों का सृजन उन्होंने किया हैं। इस विधान के कारण ही कहीं कहीं उनका भाव पक्ष अधिक भांसल हो गया है। खासकर यह विशेषता श्रृंगार से संबंद्ध नखशिख वर्णन एवं नायिका भेद के संदर्भ में देखी जा सकती है। रीतिकालीन कवियों ने संभावना मूलक उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग अधिक किया है। इसका कारण पह है कि इस में कल्पना की उडान और चमत्कार प्रदर्शन की काफी छूट रहती है। इसके अतिरिक्त चमत्कार मूलक अलंकारों में से श्लेष, यमक, अनुप्रास आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग हुआ है। इस युग की अलंकारिकता, के बारे में डॉ. शिव कुमार शर्मा ने उचित ही लिखा है। ‘‘प्राय: उन कवियों ने परंपरा – मुक्त अलंकारों का प्रयोग किया है। इस से काव्य सौंदर्य में कोई विशेष अभिवृद्धि नहीं हुई। नि:संदेह कहीं कहीं तो अलंकारों से बोझिल पंक्तियाँ भी मिलती हैं। परन्तु कहीं कहीं अलंकारों के रूप में सुंदर अप्रस्तुत विधान की योजना भी की गई है। जहाँ कवि एकमात अलंकारों के चमत्कार के पीछे दौडा है वहाँ तो काव्य रूप की विकृति हो गई है।’’

17.4 वीररस काव्य :-

रीतिकाल के जोधराज, भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर की अधिकांश रचनाएँ वीर रसात्मक हैं। इस युग में वीर रस काव्य सिर्फ राजाओं की कहानियों को लेकर ही नहीं प्रौरणिक प्रसांगों को लेकर भी लिखे गए हैं। इसके अरिरिक्त सामजिक राष्ट्रीयता को लेकर भी इस युग में वीर रस काव्य रचे गए हैं। शिवाजी, छत्रसाल जैसे आलंबत, वीर नायक इस काल के श्रृंगार - नायक से कहीं अधिक विशिष्ट और सशक्त हैं। धर्म के उद्देश्य और भगवान के अवतार के धर्म - रक्षक अभिप्राय को लेकर भूषण और लाल ने वीर - रस को उदात्त धरातल पर स्थापित किया है। आधुनिक अनुसंधानों के फल स्वरूप वीररस से ओत प्रोत शताधिक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। डॉ. रकीम सिंह तोमर ने अपने शोधप्रबंध में (हिन्दी वीर काव्य) इस काल के लग भग 90 रचनाओं का उल्लेख किया है। इन काव्यों में वीर रस के सभी भेद यथा युद्ध वीर, रानवीर, दया वीर, तथा कर्मवीर आदि का प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें से अधिकांश राजाश्रय में लिखे गए हैं। भाषा ब्रज भाषा है। इनमें तात्कालीन राजनीति चेतना का युग बोध ध्वनित हुआ है। इस रूप में रीतिकाल में श्रृंगार रस की प्रवृत्ति के साथ साथ क्षीण रूप में ही सही वीररस की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है।

17.5 नारीचित्रण :-

जहां श्रृंगारिकता प्रधान होती है वहाँ साहित्य नारी केन्द्रित हो जाती है। रीतिकालीन काव्यों की प्रमुख प्रवृत्ति श्रृंगारिकता है। इसलिए सहजतः साहित्य नारी केन्द्रित हो गयी है। परन्तु नारी के प्रति दृष्टि कोण पूर्व युगों से भिन्न रहा है। नारी प्रेम और पूज्य भावों से गिरकर श्रृंगार नायिका बनी और भोगवस्तुओं में एक माने जाने लगी। रजा-दरबारों के विलासी वातावरण ने इसे बढावा दिया। राजाश्रित कवि नारी के कुच -कटाक्ष के महीन से महीन विलासात्मक रंगीले और भड़कीले चित्र उतारकर अपने स्वामी को प्रसन्न रखने के लिए विवश थे। नारी उनके लिए एक मात्र भोगविलास का उपकरण बन गयी। नारी के अन्य रूप गृहिणी, जननी, देवी, भगिनी आदि पर उनकी दृष्टि नहीं रहीं। उन्होंने अपने काव्य में नारी शरीर के सौंदर्य को ही महात्व दिया । डॉ.नागेन्द्र के शब्दों में - ''रीति काव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, परन्तु वस्तु रूप में भौतिक भी नहीं - अर्थात न उस में आत्मा की अनल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का विराम स्थल है। जहां सभी प्रकार की दौड़-धूप से श्रांत देकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया में बैठकर अपने दु:खों और पराभवों को भूल जाता है। इसका आधार फलक इतना सीमित है कि जीवन चित्त अनेक रूपता के लिए उसमें स्थान नहीं है, उस पर अंकित जीवन-जिस भी स्वभावतः एकांगी है।'' इस रूप में रीतिकाल में नारी

सामाजिक महत्व, श्रद्धमत, ममता मूर्ति के रूप से अलग श्रृंगार हुई नायिका के रूप में प्रस्तुत हुई है। नारी शरीर की लावण्यता ने उसके वात्सल्य रूप को भी ढ़क दिया है। रीति बद्ध और रीति मुक्त कवियों के द्वारा भी नारी के सामाजिक जीवन के महत्व का उदाहरण नहीं हुआ। सभी वर्ग के कवियों ने बंधी-बधाई रीति में इस के अंग - प्रत्यंग की शोभा,दृव-भाव और विलास चेष्टाओं का ही वर्णन किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - ''यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के संगठन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बंधन से यथा संभव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है।'' इस से स्पष्ट होता है कि इस युग में नारी संकुचित दृष्टि का शिकार हुई है।इस के शारीरिक सौंदर्य का आयाम ही इस युग के साहित्य में प्रयुक्ति हुआ है।

17.6 स्वच्छंद प्रेम :-

नारी के प्रति भोगवादी दृष्टि के बावजूद इस युग के कुछ कवियों ने नारी को प्रेम के आलम्बन के रूप में चित्रित किया है। इन्होंने नारी सौंदर्य का चित्रण तो किया। फिर भी इस में विरह वेदना के साथ प्रेम की तड़प दिखाई पड़ती है। प्रेम को केन्द्र में रखकर इस युग में दो प्रकार के प्रेम काव्य रचे गए हैं। कुछ काव्यों में प्रेम का आध्यात्मिक निरूपण किया गया है तो कुछ में लौकिक प्रेम का निरूपण हुआ है। पहले प्रकार के काव्यों को मुसल मान सूफी कवियों ने रचे हैं। उन में कासिशाह, नूर मुहम्मद और शेखर निरूपण विशेष उल्लेखनीय है। दूसरे प्रकार के काव्यों को घनानंद, बोध, आलम कवियों ने रचे हैं।

17.7 लक्षण ग्रंथों का प्रणयन :-

काव्य शास्त्र की दृष्टि से रीतिकाल अत्यंत महात्वपूर्ण युग है। क्यों कि इस युग के कई कवि आचार्य कवि है। आचार्य कवि वे हैं जो लक्षण ग्रंथ (काव्य शास्त्रीय ग्रंथ) लिखते हैं। इस काल के रीति मुक्त कवियों को छोड़कर सभी ने लक्षण ग्रंथ लिखे हैं। रीति बद्ध कवियों ने तो सीधे रूप में लक्षण और उदहारण दोनों प्रस्तुत किए हैं। दूसरी ओर रीतिबद्ध कवियों ने केवल उदाहरण जुटायें, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में काव्यांग संबंधी किसी लक्षण को नहीं लिखकर उनके सभी उदाहरणों की पृष्ठ भूमि में रीति शास्त्र को व्यंजित किया है। आचार्यकर्म और कविकर्म वैसे अलग कर्म हैं। कविकर्म भावुकता प्रधान तथा आचार्य कर्म बुद्धि- प्रधान तथा पांडित्य प्रधान होता है। परन्तु रीतिकाल में दरबार में रहने के लिए कवियों को भावुकता के साथ साथ शास्त्र संबंधी बौद्धिक प्रतिमा की जरूरत पड़ती थी। इस के बावजूद भी कई आचार्य कवियों को इसमें सफलता नहीं मिला हैं। आचार्य शुक्लजी ने इसी ओर

संकेत किया है। लक्षण ग्रंथ लिखने वाले आचार्य कवियों की प्रतिभा भी पूर्ण प्ररिपक्व नहीं था। उनका काव्यशास्त्रीय ज्ञान सीमित था। क्योंकि इस युग के आचार्यों ने ह्रासोन्मुख संस्कृत काव्य-शास्त्र का ही अनुकरण मात्र करने की कोशिश कि, विलास प्रधान राज दरबार की मांग भी उस दिश में नहीं था। डॉ. भगीरथ मिश्र ने इस युग के लक्षण ग्रंथों के बारे में सही लिखा है - ''वास्तविक तथ्य तो यह है कि इन हिन्दी लक्षणकारों या रीति ग्रंथकारों के सामने कोई वास्तविक काव्य शास्त्रीय समस्या नहीं था। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्य शास्त्र के ग्रंथों का निर्माण नहीं था। वरन कवियों और साहित्य रसिकों को काव्य शास्त्र के विषयों से परिचित करना था। संस्कृत के आचार्यों की-भी परिपारी यहाँ नहीं बन पाई थी कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खंडन या मंडन करके किसी सिद्धांत या काव्यादर्शी को आगे बढाते '' स्पष्ट है कि इन लक्षण ग्रंथों से कोई नया काव्य - शास्त्री निरूपण नहीं हुा। बल्कि संस्कृत के कई काव्य शास्त्रीय विचारों को हिन्दी के स्तर पर अभिव्यक्त किया गया है।

17.8 रीतिकाव्य का अभिव्यंजना-पक्ष :-

रीतिकालीन काव्य भावात्मक के स्तर पर श्रृंगार काव्य है तो कला के स्तर सौंदर्य मूलक है। रीतिकालीन कवियों ने भाव पक्ष के साथ-साथ कला पक्ष को भी प्राथमिकता दी है। काव्य रूप, रस, छंद, अलंकार और भाषा की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य श्रेष्ठ ही ठहरते हैं। क्योंकि रीतिकालीन कवियों का अभिव्यंजना - पक्ष संस्कृत के कवियों एवं आचार्यों से प्रभावित है। दूसरी ओर दरबारी संस्कृति के अनुकूल उनको अपने काव्यों में प्रबंधात्मकता को स्थान न देकर मुक्त को अपनाना पडा। इस रूप में काव्य रूप की दृष्टि से रीतिकाल में मुम्तकों का अधिक प्रयोग हुआ है। इस के अतिरिक्त रीति काव्य में अधिकांशत: कवित्त, सवैया और दोहा जैसे छंदों का प्रयोग किया गया है। इन के अतिरिक्त छप्पय, बरवै, हरिपद आदि छंदों का भी रीतिकाल में प्रयोग किया गया है। भाषा के स्तर पर ब्रज भाषा को महत्व मिला। अलंकार प्रधान युग में भाषा की सजीवता और श्रृंगार के साथ इसके संबंध को देखते हुए कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया। रीतिकालीन कवि चमत्कार प्रिया थे। इस चमत्कार प्रदर्शन के लिए जिन शब्दालंकारों - यमक, अनुप्रास आदि का आश्रय उन्होंने लिया है तथा अर्थालंकारों को ग्रहण लिया है। इनके लिए भी उपर्युक्त छंद अनुकूल पडते थे। श्रृंगार की अभिव्यक्ति के लिए उपर्युक्त छंद ही अधिक अनुकूल पड़ते हैं। रीति और सूक्तियों को रहें जैसे छंद से सफलता पूर्वक लिखा जा सकता है।

रीतिकालीन अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में ही रहे गए हैं। भारतीय साहित्य में के क्षेत्र में संस्कृत

भाषा के पश्चात् ब्रजभाषा का स्थान आता है। ब्रज भाषा कोमल स्वरवाली मधुर भाषा मानी जाती है। रीतिकालीन कवि इसी प्रवृत्ति से आकर्षित होकर अपनी काव्य - रचना इसी में की है। डॉ. नगेन्द्र इस काल के कवि की भाषा के संबंध में लिखते हैं। - ''भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने एक खास नाजुक मिजाजी बरती है। इन के काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजाइश नहीं, किसी में माधुर्य नहीं है, जो माधुर्य गुण के अनुकूल हो। अक्षरों के गुरफन में इन्होंने कभी भी तृटि नहीं की। संगीत के रेशमी तारों में इन के शब्द माणिक्य मोती की तरह गुंथे हुए हैं। नागरिकता और इस काल की भाषा के मुख्य तत्व हैं। ऐसी रंगोज्जवल शब्दावली अनुमत दुर्लभ हैं।'' रीतिकालीन काव्य ने ब्रज भाषा को समृद्ध किया है। इस युग के कवियों ने अपने कुछ प्रयोगों के द्वारा इस काम को सुसंपन्न किया है। इन प्रयोगों में वर्ण - मैली, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मकता, शब्द गति, शब्द शोधन, अनेकार्थता, व्यंग्य आदि शामिल है। इन्होंने ब्रज भाषा में प्रचलित बोलियों के शब्दों का सम्मिश्रण किया। भूषण जैसे कवियों ने ब्रज भाषा के शब्दों के साथ साथ अरबी, फारसी के शब्दों की तोड-मरोड़ की है। हिन्दी की भाषा में अवधी, बुंदेल खंडी, राजस्थानी आदि प्रादेशिक भाषाओं की गहरी छाप है। रीति कालीन कवियों में बिहरी, रसखान तथा घनानंद की भाषा अधिक परिसिष्ठित ब्रज भाषा है। कोमल कांत पदावली की दृष्टि से देव और पद्माकरर ने तुलसी को ही पीछे छोड़ दिया है। इस रूप में रीतिकालीन ब्रजभाषा शुद्ध साहित्यक श्रेष्ठ भाषा के रूप में विकसित हुई है।

17.9 प्रतियोगिता की भावना :-

रीतिकालीन कवियों में प्रतियोगिता की भावना दो रूपों में दिखाई पड़ती है। इन कवियों की प्रतियोगिता दूसरी भाषा कवियों के साथ थी। यानी दरबार में मौजूद संस्कृत और फारसी के कवियों के साथ था। दूसरी ओर सर्वोत्कृष्टता को सिद्ध करने की ललसा की वजह से अपने वर्ग के कवियों के साथ भी था। प्रतियोगिता का स्थान ज्यादातर राज दरबार ही हुआ करता था। कवि अपने पांडित्य प्रदर्शन के साथ दूसरे कवियों से होड थे। इस भावना की वजह से कवियों में अपनी प्रतिभा को बढाने की जरूरत था। साथ ही कवियों के बीच में आपसी जलन और द्वेष भी बढते थे। रीतिकालीन साहित्य ही इसका साक्ष्य प्रमाण है।

17.10 आश्रयदाता पर निर्भरता :-

रीतिकालीन कवि राजश्रय में रहने वाले दरबारी कवि हैं। दरबारी कवि के पास ऐसी आभारी नहीं होती है, जो आजादी स्वतंत्र कवि के पास होती है। दरबारी कवि पराश्रयी कवि है। आश्रयदाता के इशारे पर उस कवि कर्म जुटना पड़ता है। क्योंकि उसका व्यक्तित्व, आजीविका और भावाभिव्यक्ति के लिए आश्रयदाता की कृपा दृष्टि पर निर्भर रहता है। वस्तु चयन और उसकी अभिव्यक्ति दोनों पर आश्रयदाता का प्रभाव रहता है। आश्रयदाता जिस वस्तु को लेकर कविता करने के लिए कहता है उस वस्तु पर कवि को कविता करना पड़ता है। यहाँ तक कि अभिव्यंजनता पद्धति पर भी आश्रयदाता की छाप पड़ती है। इससे कवियों की मौलिक प्रतिभा पर पर्दा पड़ता है। कवि बुटन का अनुभव करता है। फिर भी उसे आश्रयदाता की इच्छा के बाहर कविता करने की अजादी नहीं मिलती है।

इन सारी प्रवृत्तियों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि रीतिकाल में विविध मुखी साहित्य लिखा गया है। काव्य शास्त्री, निरूपण, साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान से संबंद्ध ज्योतिष सामुहिक शास्त्र, रमल, शालिदोता कामशास्त्र, राजनीति, पाकशास्त्र, सुरापान, संगीत शास्त्र आदि पर भी काही साहित्य रचा गया है। इससे रीतिकालीन साहित्य की व्यापकता का पता चलता है। इसलिए रीतिकालीन साहित्य को सिर्फ श्रृंगार रस तथा काव्य शास्त्रीय विषय की दृष्टि से देखना और उसका मूल्यांकन करना उचित नहीं लगता है। उसे इस व्यापक स्तर पर देखना समीचीन लगता है। रीतिकाल में काव्य रचना के साथ साथ गद्य लेखन भी लिखा गया है। रीतिकालीन साहित्य के मूल्यांकन इसी को भी गिनती में लेना होगा।

17.11 रीतिकालीन काव्य धाराएं - रीति बद्ध, रीति सिद्ध और रीतिमुक्त :-

रीति निरूपण या रीति चित्रण रीतिकाल की प्रमुख विशेषता है। इसी के आधार पर प्राय: आलोचक रीति कालीन काव्यों को या कवियों को दो वर्गों में रखते हैं। 1. रीति बद्ध 2. रीति मुक्त इन्हीं को आधार बनाकर काव्यों की धाराओं का वर्गीकरण किया जाता है। रीति बद्ध काव्यधारा व रीतिमुक्त काव्य धारा परन्तु इन के बीच में एक और धारा दिखाई पड़ती है। जिसे रीति सिद्ध धारा कहा जाता है। इस रूप में रीति निरूपण के आधार पर रीतिकाल की तीन धाराएँ बनती हैं। 1. रीति बद्ध काव्य धारा 2. रीति सिद्ध काव्य धारा 3. रीति मुक्त काव्य धारा।

रीतिबद्ध कवि वे हैं जिन्होंने संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुकरण में काव्यशास्त्र लिखे हैं। और इनके लिए आवश्यक उदाहरणों की रचना भी की है। अत: इन को शास्त्र - कवि भी कहते हैं और

आचार्य कवि भी इन्होंने अपने आपको कविशिक्षक भी कहा है। इन्होंने उस समय के राजा, रईसों, कवि, समाज तथा रसिक जनों के लिए काव्यांगों का निरुपण किया है। लेकिन इन्होंने संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुकरण पर ही यह काम किया है। इसलिए इन में मौलिकता और गहराई की कमी है। संस्कृत काव्य शास्त्र के रस, छंद और अलंकारों का प्रभाव इन पर है। रीति बद्ध कवियों ने इन के संदर्भ में कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है। इन आचार्य कवियों ने काव्य शास्त्र निरुपण के लिए पद्यात्मक शैली को अपनाया है।

इन रीतिबद्ध कवियों में आचार्यत्व एवं कवित्व का सुंदर सम्मिश्रण हैं। एक ओर तो उन्होंने विशुद्ध ग्रंथ लिखे है दूसरी ओर उनके निरूपण के लिए सरस उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। ऐसी रचनाओं में कला पक्ष की प्रधानता हैं। इनकवियों में राम दरबार में पांडित्य प्रदर्शन और काव्य - कौशल दिखाने की इच्छा रही है। काव्य शास्त्रीय सूक्ष्मताओं के प्रति उनके कोई लिंग नहीं है। इस वर्ग के कवियों में पुन: दो वर्ग हैं। एकवर्ग में वे कवि आते हैं। इन्होंने लक्ष्य तथा लक्षण ग्रंथ लिखे हैं। जैसे देव, मतिराम, चिंतामणि, केशव, पद्माकर आदि आते हैं। दूसरे वर्ग में वे कवि आते हैं। इन्हों ने सिर्फ लक्षण ग्रंथ लिखे हैं जैसे श्रीपति आदि।

रीतिबद्ध कवियों का एक उपवर्ग रीति सिद्ध कवि हैं। इस वर्ग के कवियों ने रीति काव्य की बंधी हुई परिपाटी में स्वतंत्र ग्रंथ लिखकर अपनी कवि-प्रतिभा का परिचय दिया। राज शेखर जैसे काव्य शाली ने इन को 'काव्य-कवि' कहा है। इन कवियों ने अपने को आचार्य कवि कहने को पसंद नहीं की। इन्होंने रीति का बंधन स्वीकार गौरव की किया। कवि अभिलाषा भी इन में दिखाई पड़ती हैं। इन काव्य कवियों की एक विश्लेषता यह भी है कि इन्होंने कवित्व के लोभ में सुंदर उक्तिओं को काव्य बद्ध किया है। इन्होंने अपनी कविता को लक्षण- विशेष के भांते में डालने की की चिंता नहीं की है । इन्होंने दरबारी संस्कृति अनुरूप स्वानुभूति के आधार पर मौलिक काव्य की रचना की है। भाव पक्ष के उद्घाटन में इन्होंने पूरी आधारी ली है। लक्षण ग्रंथ नहीं लिखने के बावजूद इन्होंने काव्य में कलापक्ष की उपेक्षा नहीं की है। इन की अभिव्यंजना पद्धति आलंकारिक है। इस रीति सिद्ध कवियों के वर्ग में बिहारी जैसे कवि आते हैं। परन्तु कुछ आलोचकों ने बिहारी को रीति बद्ध कवि ठहरा ने की कोशिश की है। परन्तु वे रीति सिद्ध कवि हैं।

रीतिमुक्त कवि रीति निरूपण से मुक्त है। इन्होंने लक्षण ग्रंथ लिखे हैं न लक्षय ग्रंथ। ऐसे कवि लगभग पचास से भी ज्यादा हैं। इन में से कुछ कवियों ने लक्षण बद्ध काव्य न लिखकर अपनी रचना ओं में स्वच्छंद प्रेम का निरूपण किया है। इस वर्ग में घनानंद, आलम, बोधा और ठाकुर जैसे कवि आते

हैं। इन में से कुछ कवियों ने कथा-प्रबंध-काव्य लिखे हैं। इस वर्ग के अंतर्गत लाल कवि तथा सूदन कवि आते हैं। इन में से कुछ कवियों ने दानलीला, मानलीला आदि पर वर्ग नायक प्रबंध काव्य रचे हैं। इस वर्ग के अंतर्गत ग्वाल जैसे कवि आते है। इन में से कुछ कवियों ने नीति संबंधी पथ और सूक्तियाँ लिखी हैं। इस वर्ग के कवियों में वृंद, गिरिधर दास उल्लेखनीय है। इनमें से कुछ कवियों ने वीररस के फुटकर पथ लिखे है। इस वर्ग के कवियों के कव्यों के अंत गीत भूषण जैसे कवि आते हैं।

इस रूप में रीति कालीन काव्य - प्रवाह तीन धाराओं में बढ़ता हुआ रीति - महा समुद्र में विलीन होता है। इस महासागर की एक एक बूंद इस युग के प्रतिभावान कवियों के सत्प्रयासों का परिणाम है। एक एक बूंद विलक्षण प्रवृत्ति को लेकर निर्मित है। इसलिए रीति कालीन साहित्य विविध मुखी, विलक्षण प्रवृत्ति का और व्यापक कलात्मक मूल्यों को लेकर लिखा गया साहित्य है।

(101HN21)

M.A. DEGREE EXAMINATION, APRIL 2022.

First Semester

Hindi

Paper I — HISTORY OF HINDI LITERATURE

Time : Three hours Maximum : 70 marks

हिन्दी साहित्य का इतिहास (रीतिकाल तक)

किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए।
सभी प्रश्नों के अंक समान हैं। $(5 \times 14 = 70)$

1. (a) हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन और नामकरण पर प्रकाश डालिये।

अथवा

(b) पृथ्वीराज रासों की प्रमाणिकता पर प्रकाश डालिये।

2. (a) भक्ति काल के प्रतिनिधि रचनाकार और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालिये।

अथवा

(b) जायसी की प्रेम व्यंजना पर संक्षिप्त लेख लिखिये।

3. (a) बिहारी की श्रृंगारिकता को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

(b) रीतिकाल की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालिये।

4. (a) बिहारी की कविताओं की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

अथवा

(b) घनानंद की वियोग वेदना को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये।

5. (a) किन्हीं दो कवियों का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

(i) जायसी

(ii) सूरदास

(iii) तुलसीदास

(iv) घनानंद

अथवा

(b) किन्हीं दो विषयों पर टिप्पणि लिखिये।

(i) हिन्दी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन

(ii) भक्ति कालीन साहित्य चेतना

(iii) कृष्ण काव्य परम्परा

(iv) घनानंद की वियोग वेदना

101HN21

ORIGINALITY REPORT

26%	25%	1%	3%
SIMILARITY INDEX	INTERNET SOURCES	PUBLICATIONS	STUDENT PAPERS

PRIMARY SOURCES

1	southernasianchurch.com Internet Source	6%
2	epustakalay.com Internet Source	5%
3	ia800106.us.archive.org Internet Source	4%
4	vishwahindi.com Internet Source	3%
5	eparlib.nic.in Internet Source	3%
6	atmadharma.com Internet Source	2%
7	www.atmadharma.com Internet Source	1%
8	Submitted to Pacific University Student Paper	1%
9	Submitted to University of Mumbai Student Paper	<1%
10	J. Barrett. "An improved error bound for a finite element approximation of a model for phase separation of a multi-component alloy", IMA Journal of Numerical Analysis, 1999 Publication	<1%
11	"Neural Networks: Tricks of the Trade", Springer Nature, 1998	<1%

Publication

12	Lyon, Scott M.. "The Pseudo-Rigid-Body Model for Dynamic Predictions of Macro and Micro Compliant Mechanisms.", Brigham Young University, 2020 Publication	<1 %
13	Leonidas, Zampetakis. "Μεθοδολογία για την ανάπτυξη της επιχειρηματικότητας στο δημόσιο τομέα", Technical University of Crete (Greece) Publication	<1 %
14	Cohen, Yuval. "Fortunate Misfortune: A Discussion of the Moral Paradox", University of Haifa (Israel), 2021 Publication	<1 %
15	John Granger Cook. "Empty Tomb, Resurrection, Apotheosis", Mohr Siebeck, 2018 Publication	<1 %
16	Martin-Pinto, P.. "Early effects of a wildfire on the diversity and production of fungal communities in Mediterranean vegetation types dominated by Cistus ladanifer and Pinus pinaster in Spain", Forest Ecology and Management, 20060415 Publication	<1 %

Exclude quotes	Off	Exclude matches	Off
Exclude bibliography	Off		

101HN21

GRADEMARK REPORT

FINAL GRADE

/0

GENERAL COMMENTS

PAGE 1

PAGE 2

PAGE 3

PAGE 4

PAGE 5

PAGE 6

PAGE 7

PAGE 8

PAGE 9

PAGE 10

PAGE 11

PAGE 12

PAGE 13

PAGE 14

PAGE 15

PAGE 16

PAGE 17

PAGE 18

PAGE 19

PAGE 20

PAGE 21

PAGE 22

PAGE 23

PAGE 24

PAGE 25

PAGE 26

PAGE 27

PAGE 28

PAGE 29

PAGE 30

PAGE 31

PAGE 32

PAGE 33

PAGE 34

PAGE 35

PAGE 36

PAGE 37

PAGE 38

PAGE 39

PAGE 40

PAGE 41

PAGE 42

PAGE 43

PAGE 44

PAGE 45

PAGE 46

PAGE 47

PAGE 48

PAGE 49

PAGE 50

PAGE 51

PAGE 52

PAGE 53

PAGE 54

PAGE 55

PAGE 56

PAGE 57

PAGE 58

PAGE 59

PAGE 60

PAGE 61

PAGE 62

PAGE 63

PAGE 64

PAGE 65

PAGE 66

PAGE 67

PAGE 68

PAGE 69

PAGE 70

PAGE 71

PAGE 72

PAGE 73

PAGE 74

PAGE 75

PAGE 76

PAGE 77

PAGE 78

PAGE 79

PAGE 80

PAGE 81

PAGE 82

PAGE 83

PAGE 84

PAGE 85

PAGE 86

PAGE 87

PAGE 88

PAGE 89

PAGE 90

PAGE 91

PAGE 92

PAGE 93

PAGE 94

PAGE 95

PAGE 96

PAGE 97

PAGE 98

PAGE 99

PAGE 100

PAGE 101

PAGE 102

PAGE 103

PAGE 104

PAGE 105

PAGE 106

PAGE 107

PAGE 108

PAGE 109

PAGE 110

PAGE 111

PAGE 112

PAGE 113

PAGE 114

PAGE 115

PAGE 116

PAGE 117

PAGE 118

PAGE 119

PAGE 120

PAGE 121

PAGE 122

PAGE 123

PAGE 124

PAGE 125

PAGE 126

PAGE 127

PAGE 128

PAGE 129

PAGE 130

PAGE 131

PAGE 132

PAGE 133

PAGE 134

PAGE 135

PAGE 136

PAGE 137

PAGE 138

PAGE 139

PAGE 140

PAGE 141

PAGE 142

PAGE 143

PAGE 144

PAGE 145

PAGE 146